हिन्दी पत्रकारिता और
स्वामी श्रद्धानन्द

लेखक

डॉ. सुभाष भास्कर

एम.ए., पी-एच.डी.

२००० ई.

सरस्वती साहित्य संस्था

२९५, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग,

दिल्ली-९२

हिन्दी पत्रकारिता और स्वामी श्रद्धानन्द

लेखक :
डॉ० सुभाष 'भास्कर'

प्रकाशक :
सरस्वती साहित्य संस्था
२६५, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग
दिल्ली-६२ दूरभाष : २१५२४३५

दयानन्दाब्द – १७५

विक्रमी संवत् : २०५६
सन् : २००० ई०

मूल्य : १२५ रुपये

शब्द संयोजक :
शैल कम्प्यूटर्स, दिल्ली

मुद्रक : सजंय प्रिन्टर्स, दिल्ली

ओ३म्

डॉ० धर्मपाल
कुलपति

फोन : 0133-416366 (ऑ0)
फोन : 0133-416235 (नि0)
फैक्स : 0133-416366
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - 249404 (भारत)

पत्रांक............................

प्राक्कथन

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी स्वामी श्रद्धानन्द जो कार्य प्रारम्भ करते थे उसकी पूर्णता के लिए तन, मन व धन सब कुछ लगा देते थे। सर्वस्व होम करने की उनकी नियति बन गयी थी। वैदिक-विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए वे सर्वात्मना समर्पित थे। स्वामी जी के द्वारा उर्दू पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को हिन्दी भाषा में कर देना उनकी भाषा के प्रति निष्ठा का परिचायक है।

डॉ० सुभाष 'भास्कर' का जन्म आर्य परिवार में हुआ। आर्ष पद्धति से अध्ययन होने के कारण आपके संस्कार वैदिक विचार धारा के प्रति और भी दृढ़ हो गये। वैदिक-संस्कृति एवं स्वामी जी के महान् गुणों से प्रभावित होकर आपने हिन्दी विभाग के अन्तर्गत गुरुकुल कांगड़ी से डॉ० सन्तराम वैश्य के निर्देशन में शोध **"हिन्दी पत्रकारिता के विकास में स्वामी श्रद्धानन्द का योगदान"** नामक विषय पर किया। इसी शोध ग्रन्थ को **"हिन्दी पत्रकारिता और स्वामी श्रद्धानन्द"** नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति के उत्थान के लिए किये गये प्रयासों को यह ग्रन्थ बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित करता है। सादा जीवन, उच्च विचार का जीवन जीने वाले लेखक के साथ मेरी शुभकानाएँ हैं। प्रभु से मेरी यही कामना है कि ये जीवन में और अधिक विकास करें।

डा० धर्मपाल

७ नवम्बर, १९९९, दीपावली

श्रद्धानन्द का योगदान

आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने देश, धर्म, समाज तथा शिक्षा के क्षेत्रों में जो बहुमूल्य योगदान किया वह तो इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है ही, हिन्दी पत्रकारिता के विकास में भी उनकी निर्णायक भूमिका रही है। उन्होंने कार्य क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया जब हिन्दी पत्रकारिता अपनी शैशवावस्था में ही थी। अपनी दूरदर्शिता तथा सहज बुद्धि से स्वामी जी ने अनुभव किया कि आर्य सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए भारतीय भाषाओं के पत्रों की उपयोगिता निर्विवाद है। इसी विचार को दृष्टिगत रखकर स्वामी श्रद्धानन्द ने सर्वप्रथम सद्धर्म प्रचारक पत्र उर्दू में निकाला किन्तु जब उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी में निकालना ही उचित है तो उन्होंने इस परिवर्तन में देर नहीं की। बाद में भी गुरुकुल कांगड़ी के द्वारा अनेक पत्र निकाले गये। जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहायता मिली। स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति तो हिन्दी पत्रकारिता के शिखर पुरुष थे। उन्होंने पत्रकारिता का पहला पाठ अपने स्वनामधन्य पिता के चरणों में बैठकर ही सीखा था। अतः इन्द्रजी द्वारा हिन्दी पत्रकारिता की जो सेवा की गई उसमें भी स्वामी जी के योगदान को देखा जा सकता है।

प्रसन्नता की बात है कि युवा विद्वान् डॉ० सुभाष 'भास्कर' ने युग पुरुष श्रद्धानन्द के पत्रकार जीवन की सुन्दर तथा संशिष्ट विवेचना उपर्युक्त शोध ग्रन्थ में की है जिस पर उन्हें गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। डॉ० 'भास्कर' का जन्म पन्द्रह मई सन् उन्नीस सौ इकहत्तर को मुजफ्फरनगर जिला ग्राम टिटौड़ा में श्री हातमसिंह के यहाँ हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार में अध्ययन कर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त की। तदनन्तर वे गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर तथा गुरुकुल कांगड़ी में अध्ययनरत रहे। तथा हिन्दी एम० ए० और

पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। आलोच्य शोध प्रबन्ध में विद्वान् शोध लेखक ने ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में स्वामी श्रद्धानन्द के युग तथा प्रवृत्तियों की सतर्क समीक्षा करने के पश्चात् स्वामी जी द्वारा सम्पादित पत्रों का परिचय दिया है। उपर्युक्त शोध प्रबन्ध में प्रकाशित स्वामी जी के लेखों तथा सम्पादकीयों के कथ्य एवं शैली का तर्क सम्मत विश्लेषण कर शोधकर्ता ने जो निष्कर्ष निकाले हैं ये निश्चय ही महत्त्वपूर्ण तथा इतिहास के सशक्त हस्ताक्षर हैं। स्वामी जी के लिए पत्रकारिता एक मात्र मिशन था जिसे उन्होंने बहुआयामी प्रवृत्तियों में ही एक तथा दृढ़ निष्ठा तथा संकल्प पूर्वक निभाया। आशा है यह ग्रंथ हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास के अनेक अनदेखे पहलुओं से पाठकों का परिचय करायेगा।

–डॉ० भवानी लाल भारतीय

भूमिका

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द का नाम स्वामी दयानन्द के साथ उसी सम्मान के साथ लिया जा सकता है जिस सम्मान के साथ चन्द्रमा का नाम सूरज के साथ लिया जाता है। वास्तव में इन दोनों विभूतियों ने आर्यसमाज के माध्यम से भारत में व्याप्त भ्रान्तियों, रूढ़ियों और कुप्रथाओं के अन्धकार का अन्त कर वैदिक धर्म का प्रकाश फैलाया और अभ्युदय का पथ-प्रशस्त किया।

स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्वनाम मुंशीराम) का जन्म सम्पन्न घराने में हुआ था अतः उनका प्रारम्भिक जीवन बहुत ही स्वच्छन्द एवं विशृंखलित था। पर महर्षि दयानन्द के व्याख्यान को सुनकर उनके जीवन में सहसा परिवर्तन आ गया। उन्होंने स्वीकार भी किया है कि मैंने अनेक विद्वान् वक्ताओं के व्याख्यान सुने थे परन्तु मुझ जैसे नास्तिक को भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर आस्तिक बना देना महान् आत्मा ऋषिवर दयानन्द की ही तपः पूत वाणी का प्रभाव था।

स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक शिक्षा को भारतवर्ष की उन्नति का मूल मानते हुये २ मार्च सन् १९०२ में हरिद्वार के निकट काँगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की। गुरुकुल में प्राचीन विषयों के साथ-साथ अर्वाचीन विषयों के अध्ययन की भी सुविधा है। स्वामी जी ने नारी शिक्षा के लिए भी कन्या गुरुकुलों की स्थापना की। महात्मा गांधी की प्रेरणा से राजनीति में आकर स्वामी जी ने राजनीतिक मंचो से भी छुआछूत मिटाने के साथ अछूतोद्धार की बात उठायी। शुद्धि आन्दोलन के तो वे सुदृढ़ स्तम्भ थे। हिन्दू संगठन बनाकर वे हिन्दुओं में चेतना जागृत करना चाहते थे। उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार कर भारत से मत-मतान्तर समाप्त करने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

हिन्दी भाषा की उन्नति में भी स्वामी जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र को उर्दू से हिन्दी में प्रकाशित करना उनकी हिन्दी भाषा के प्रति निष्ठा का परिचायक है। बाद में 'श्रद्धा', 'दि गुरुकुल मैग्जीन', 'वैदिक मैग्जीन एण्ड गुरुकुल समाचार', 'वीर अर्जुन' आदि पत्र-पत्रिकाओं को भी उन्होंने हिन्दी भाषा में निकाला। 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक 'आत्मकथा' लिखकर उन्होंने हिन्दी में साहित्यिक विधा 'आत्मकथा-लेखन' का सूत्रपात किया। हिन्दी पत्रकारिता के द्वारा आर्यजगत में राष्ट्रीय संचेतना का प्रसार किया। स्वामी श्रद्धानन्द को हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भीष्म पितामह की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिश्योक्ति न

होगी। स्वामी श्रद्धानन्द बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। मानव मात्र के कल्याण के लिए सर्वस्व होम करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द को 'हिन्दी पत्रकारिता और स्वामी श्रद्धानन्द' नामक पुस्तक जनता जनार्दन के हित में लिखकर मैं अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूँ।

"हिमालय की ऊँचाई, सागर की गहराई
पृथ्वी का ओर-छोर मापना और
नभ के तारों की गणना जितनी कठिन
उससे कहीं अधिक कठिन स्वामी श्रद्धानन्द
के जीवन की गरिमा और कार्यों की
महत्ता को जांचना और परखना"

– सुभाष 'भास्कर'

प्रथम अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द और उनका युग

संसार में महापुरुष अपने समय के आदर्श होते हैं। बहुत से महान् पुरुषों की आवश्यकता बड़े लम्बे समय तक बनी रहती है। महाराजा रामचन्द्र और योगिराज कृष्ण हजारों वर्ष से आर्यजाति के मुखाग्र हैं और अनन्तकाल तक आर्यजाति उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करती रहेगी। महाराजा रामचन्द्र और योगिराज कृष्ण के पश्चात् भी अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने समय-समय पर संसार में अनेक सुधार किए हैं। उन्हीं में ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द आर्य एवं हिन्दू जगत के महान सुधारक हुए। मेरी अपनी सम्मति के अनुसार इन सर्वांगीण सुधारकों के बिना आर्य जाति का सम्मानपूर्वक जीवित रहना भी कठिन था।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन पर प्रकाश डालने से पूर्व तत्कालीन (उन्नीसवीं सदी के) भारत पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यह सदी राष्ट्र-सेवा एवं राष्ट्रीय चेतना की संवाहिका रही है। वहाँ मात्र-प्रश्न नहीं गूँजते बल्कि उन प्रश्नों को उठाने वाले बलिदानी वीर कर्म की तूफानी लहरों से जूझते हुए भी दिखाई देते हैं। तमस् के विरुद्ध लोग लड़ाई लड़ते और आत्म-बलिदान करते हुए भी दृष्टिगोचर होते हैं।

१. राजनीतिक स्थिति :

भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, वरन् समस्त एशिया के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी एक युगान्तरकारी शताब्दी रही है। इस शताब्दी में एशिया के प्रायः सभी देशों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवर्तन हुए। भारतवर्ष में उन्नीसवीं शती का युग भले ही अपने स्वरूप में सामन्ती रहा हो पर सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम न केवल नये भारत के निर्माण का प्रतीक है अपितु राष्ट्र के भीतर पनप रही अन्धकार की शक्तियों से जूझने का प्रेरक भी है। इस काल के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजों को अपना राज्य स्थापित करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। अंग्रेज भारत में व्यापार करने आये थे लेकिन यहाँ की स्थिति देखकर उन्होंने अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अंग्रेजों के राजनीतिक जीवन में संकट काल अवश्य उत्पन्न हुए थे और कई बार उन्हें मराठों, हैदर अली, टीपू सुल्तान, सिक्खों और गोरखों से पराजित होना पड़ा था। भारतवासियों में प्रतिभा का अभाव न था किन्तु यदि वे दूरदर्शिता से काम

लेते तो आज देश का दूसरा इतिहास होता। उन्नीसवीं शताब्दी तक कोई संगठित एवं केन्द्रीय भारतीय सत्ता स्थापित न हो सकी। अनेक सामन्त और सूबेदार सिर उठाने और मनमानी करने लगे। देश में एकता, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशीलता, दूरदर्शिता और जीवन की समस्याओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव था। दिन-रात के पारस्परिक कलह और विग्रह के फलस्वरूप जनता आए दिन सैनिक, आर्थिक आदि विविध अत्याचारों और अराजकता से पीड़ित होती रहती थी। लोकादर्श और लोकहित की भावना के स्थान पर विलासप्रियता, वैयक्तिकता, जीवन के प्रति पराङ्मुखता आदि बातों का प्राधान्य हो चला था। १८५७ के बाद ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के सुशासन पर विशेष ज़ोर दिया। अवसर पड़ने पर जनता सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता अर्थात् ब्रिटिश सरकार से सैनिक सहायता तक माँग सकती थी। पहली नीति के अन्तर्गत देशी राज्यों की जनता को अपने हितों के लिए विद्रोह करने का पूर्ण अधिकार था। अन्तिम नीति के अन्तर्गत जनता अंग्रेजों से सैनिक सहायता की याचना कर सकती थी। किन्तु बीच की परिस्थिति में अंग्रेज न तो किसी राज्य के शासन सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप ही कर सकते थे और न पीड़ित जनता की किसी रूप में सहायता ही कर सकते थे। डलहौजी के समय में भारत में कुछ सुधार के अवसर दिखाई दिये, परन्तु उसके जाते ही भारत के राजनीतिक गगन में विपत्ति के काले बादल छा गये। विद्रोह हुआ तो एक सीमित प्रदेश में था, किन्तु उसका प्रभाव समस्त देश की शासन नीति पर पड़ा। यह नवीन शासन नीति राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े जमीदारों के लिए विशेष रूप से हितकर सिद्ध हुई। अंग्रेज सरकार ने उन्हीं के माध्यम से जनता को वश में रखने की नीति ग्रहण की। साथ ही सरकार की नीति के फलस्वरूप कुछ ऐसे वर्ग उत्पन्न हुए जिनका हित ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जुड़ा हुआ था। इन नवजात वर्गों को एक-दूसरे से लड़ाकर तथा भेद-नीति से काम लेकर अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य की नींव दृढ़ बनाई।

२. आर्थिक स्थिति :

आर्थिक दृष्टि से अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक देश यथेष्ट विकसित अवस्था में था। उद्योग-धन्धों और ग्राम-व्यवस्था पर उसका आर्थिक जीवन आधारित था। समाज में जुलाहों और कारीगरों का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान था जितना कृषकों का। यदि अट्ठारहवीं शताब्दी में महान् संक्रान्ति काल उपस्थित न होता तो संभवतः उद्योग-धन्धों और कृषि की उत्पादन शक्ति के साधनों में और भी विकास होता; किन्तु

निरन्तर युद्ध और सामन्तों की बढ़ी हुई निरंकुशता के कारण ऐसा संभव न हो सका। राजनीतिक अराजकता ने भी आर्थिक व्यवस्था को आघात पहुँचाया। अंग्रेजों ने औद्योगिक क्रान्ति के बाद की साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक आर्थिक नीति का आश्रय ग्रहण कर बिगड़ी हुई दशा को सुधारने का अवसर न मिलने दिया। उनका मुख्य ध्येय इंग्लैण्ड के कल-कारखानों के लिए कच्चा माल खपाने का था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने समय-समय पर ऐसी आर्थिक नीतियों का अवलम्बन ग्रहण किया जिनसे यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट हुए और खेती करना लोगों का मुख्य व्यवसाय रह गया। आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। बेकार जुलाहों और कारीगरों ने जब कृषि व्यवसाय अपनाया तो संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाने के कारण वहाँ भी संकट उपस्थित हो गया। बचे-खुचे कारीगर मशीन से बने सस्ते माल का मुकाबला न कर सके। दिन-पर-दिन विदेशी माल का प्रचार बढ़ने से धन विदेश जाने लगा। भारतीय समाज की रीढ़ ग्राम-व्यवस्था भी अंग्रेजी शासन में टूट गई। राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से भारत परमुखापेक्षी बन गया था। बड़े-बड़े शहरों में चुंगियाँ स्थापित की गयीं। युद्धों के व्यय का भार भारतीय कोष पर डाल दिया जाता था। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण थोड़े से उच्चवर्गीय लोगों का ही लाभ हुआ। साधारण आदमी की निर्धनता कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही थी। अंग्रेजों ने न केवल जमींदारी प्रथा का बीजारोपण किया, वरन् वे स्वयं एक बड़े जमींदार बन बैठे। अंग्रेजों के द्वारा भारतीय किसानों का ही नहीं बल्कि समस्त देश का आर्थिक शोषण किया गया। इस प्रकार उस समय देश की आर्थिक स्थिति चरमरा उठी थी।

३. धार्मिक स्थिति :

हिन्दू अपने धार्मिक जीवन का मूल वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों में मानते थे। उनमें बहुदेववाद, भाग्यवाद, कर्मफल, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, पुनर्जन्म आदि की विविध भावनाएँ प्रचलित थीं। बौद्ध तथा जैन मतों और इस्लाम का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ चुका था। हिन्दू धर्म के उच्च दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार केवल मुट्ठी भर शिक्षित व्यक्तियों तक सीमित था। समाज के अधिकांश नागरिकों में धर्म का बाह्य परम्परा-विहित, रूढ़िग्रस्त, अन्धविश्वासों और मूर्तिपूजा, बहुदेववाद तथा सर्वदेववाद के अत्यन्त गर्हित और विकृत रूप से संचालित कर्मकाण्डों वाला रूप प्रचलित था। धर्म के इस रूप के अन्तर्गत ऐसी अनेक रीतियाँ और प्रथाएँ थीं जिन्हें यदि कुत्सित, सारहीन, असामाजिक, क्रूर और अमानुषी कहा

जाय तो अत्युक्ति न होगी। जमीन पर पेट के बल रेंगते हुए या लुढ़कते हुए तीर्थयात्रा करना, काशी या प्रयाग में जीवित अवस्था में जलप्रवाह लेना या ज़िंदा ज़मीन में गड़ जाना, केवल भूखे रहकर शरीर को सुखा लेना, एक पैर से खड़े रहना, काँटों की शैय्या पर सोना आदि अनेक यातनापूर्ण धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रचार था। अधिकांश में प्रचलित धर्म की बागडोर कूपमण्डूक ब्राह्मणों, पण्डों, पुजारियों, गंगापुत्रों, ज्योतिषियों, गुरुओं आदि के हाथ में थी। राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के कारण धर्म के ह्रास की गति और भी तीव्र हुई। वह अधिकाधिक रूढ़िग्रस्त, परस्परा विहित कट्टर और संकुचित होता गया। हिन्दू धर्म की इन्हीं कमजोरियों के आधार पर इस्लाम की भाँति ईसाई धर्म भी पनपने लगा था। ईसाई मिशनरियाँ भारत के लोगों की दयनीय दशा का लाभ उठा रही थीं।

४. सामाजिक स्थिति :

हिन्दू सामाजिक संगठन के दो प्रधान स्तम्भ रहे हैं–सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा तथा वर्ण-व्यवस्था। कुल में पैतृक व्यवसाय, शिक्षा, आचार-विचार इत्यादि का निरन्तर प्रचार होता चलता था। सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न स्मृतियों के आधार पर स्थापित वर्ण-व्यवस्था के नियमों का पालन करना प्रत्येक वर्ण का पुनीत कर्त्तव्य था, उसमें शंका या तर्क के लिए गुंजाइश नहीं थी। जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसके जन्म के पहले ही निर्धारित रहता था। उस स्थान से विचलित होकर परलोक और पुनर्जन्म की यातनाएँ सहन करने का साहस किसी व्यक्ति को न होता था। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, सती-प्रथा, बाल-हत्या, खान-पान और छुआछूत सम्बन्धी प्रतिबन्ध, समुद्र-यात्रा-निषेध, फलित ज्योतिष और जादू टोनों में विश्वास, पर्दा आदि अनेक ऐसी प्रथाएँ प्रचलित थीं जिनमें हिन्दू धर्म और समाज का मंगलमय और उदात्त रूप छिप गया था। अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत शासन तथा आर्थिक व्यवस्था और नवशिक्षा के कारण जहाँ अनेक परिवर्तन हुए वहाँ सबसे बड़ा परिवर्तन भारत की सामाजिक व्यवस्था में मध्यम वर्ग का जन्म होना था–एक प्रकार से अन्य सभी परिवर्तन इसी मध्यम वर्ग के कारण हुए। नवीन विचारों से प्रेरित होकर मध्यम वर्ग ने भारतीय जीवन में अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। इसी वर्ग के द्वारा भारत आधुनिकता की ओर अग्रसर होकर संसार के अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित कर सका है।

५. नवोत्थान :

संसार में प्रायः धर्म और समाज में अभिन्न सम्बन्ध रहता है। किन्तु हिन्दू धर्म में यह बात सबसे अधिक देखी जा सकती है। हिन्दू धर्म में वास्तव में धार्मिक व्यवस्था

की अपेक्षा सामाजिक व्यवस्था अधिक है। सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत सर्वप्रथम बंगाल के ब्रह्मसमाज (सन् १८२८) द्वारा हुआ। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजाराम मोहनराय ने सतीप्रथा, बालविवाह, जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था आदि सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया और स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि का समर्थन किया। बम्बई में इसी समाज के आधार पर प्रार्थना समाज की नींव पड़ी। उसके नेताओं में प्रमुख थे–डॉ. भण्डारकर और न्यायमूर्ति रानाडे। थियोसोफिकल सोसायटी (सन् १८५७) ने भी देशवासियों का देश के प्राचीन गौरव की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

भारतीय नवोत्थान के विशुद्ध दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण हमें आर्यसमाज आन्दोलन में मिलता है। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिए अनेक व्यक्तियों ने अपने घर-बार छोड़ दिये थे। इस काल के ऐसे महान् व्यक्तियों में से, जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४–१८८३) का नाम बड़े गौरव और आदर के साथ लिया जा सकता है। भारतेन्दु के जीवन-काल में आर्यसमाज का प्रचार काफी हो चुका था। सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागड़ोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्यसमाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका। हिन्दी साहित्य और भाषा की गतिविधि की परम्परा छोड़कर नवदिशोन्मुख हुई। महर्षि दयानन्द की भाषा संस्कृत-गर्भित है यद्यपि उसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषा का प्रयोग भी मिलता है। आर्यसमाज की भाषा से हिन्दी भाषा में एक नई शैली का प्रतिपादन हुआ। **'सत्यार्थ प्रकाश'** में स्वामी दयानन्द ने जैन, सिक्ख आदि हिन्दू सम्प्रदायों तथा इस्लाम और ईसाई मतों की तीव्र आलोचना की है। इससे भाषा में गहन से गहन विषयों पर भी वाद-विवाद करने की शक्ति आ गई। आर्यसमाज के कारण व्याख्यानों की धूम मची जिससे हिन्दी भाषा का, समस्त उत्तर भारत में प्रचार हुआ। भाव-व्यञ्जना में भी इससे सहायता मिली और तर्क शैली के साथ-साथ भाषा में व्यंग्य तथा कटाक्ष करने की शक्ति का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार आर्यसमाज तथा अन्य धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी भाषा तथा गद्य-शैली का विकास हुआ, यह निर्विवाद है।

महात्मा मुंशीराम ने खूब देख परख कर अपने को उभरती हुई शक्ति आर्यसमाज के प्रति समर्पित कर दिया था। और यह समर्पण सम्पूर्ण था। यह भी सत्य है कि उभरती हुई शक्तियों को बाहरी संकटों से इतना भय नहीं होता जितना भय आन्तरिक संकटों से होता है। यह संकट पहले मतभेद के रूप में उभरता है। मतभेद जब तक रचनात्मक रूप में रहते हैं वे किसी भी समाज की शक्ति ही बनते हैं। लेकिन जाने-अनजाने में ऐसा भी होने लगता है कि उन मतभेदों के साथ व्यक्ति का अहं जुड़ जाता है, तब वे ही मतभेद जो प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे, घुन बनकर समाज को अन्दर ही अन्दर कमजोर करने लगते हैं।

"संसार में किसका समय है एक-सा रहता सदा,
है निशि-दिवा सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा ।
जो आज दीन-अनाथ है, नर नाथ होता कल वही,
जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक से रोता वही ।।"[१]

दुर्भाग्य से आर्यसमाज के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ । वह शीघ्र ही दो दलों में बँट गया । इतिहास साक्षी है कि दोनों दलों के अग्रणी नेताओं ने मतभेदों को रचनात्मक रूप देने की पूरी कोशिश की इसलिए जहाँ एक ओर पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय के संरक्षण में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक शिक्षण संस्थाओं का उदय हुआ वहाँ दूसरी ओर स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयत्नों से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ने जन्म लिया । इस सम्बन्ध में महात्मा मुंशीराम जी के सुपुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं कि– "पिताजी के जीवन में क्रान्ति के बीज बहुत पहले से बोए जा चुके थे । बरेली में ऋषि दयानन्द के दर्शनों से क्रान्ति का जो बीज बोया गया वह धीरे-धीरे अंकुरित होकर पल्लवित हो रहा था । उस घटनाचक्र ने जिसकी अन्तिम सामाजिक घटना आर्य-पथिक लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्यसमाज की गुरुकुल और कालिज पार्टियों में फिर संघर्ष का स्वर फूट पड़ा । और अन्तिम पारिवारिक घटना गुरुदत्त जी का विवाह था जिस ने पिताजी के जीवन को एकदम नई धारा में डाल दिया । क्रान्ति का प्रवाह तीव्र हो गया । जिसकी टक्कर से घर-गृहस्थी की रिवाजी दीवारें धड़ा-धड़ गिरने लगीं।"[२]

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द को तत्कालीन परिस्थितियों ने झकझोर कर रख दिया परन्तु उन्होंने भी हार नहीं मानी और आगे बढ़ते ही चले गये । स्वामी जी ने फिर सुख-दुःखों की परवाह नहीं की और जीवन को पूर्ण रूपेण समाज को अर्पित कर दिया ।

जीवन-परिचय :

परम श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी के विराट् व्यक्तित्व के बारे में पाश्चात्य विद्वान् **रेम्जे मैक्डानल्ड** ने कहा था कि–"वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित मॉडल लेना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूँगा । यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिए नमूना माँगे तो मैं उसे जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूँगा ।"[३]

वास्तव में स्वामी जी का व्यक्तित्व ईसा और सेंट पीटर के समान भव्य एवं आकर्षक था । प्रत्येक भारतवासी इस तपोमूर्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है ।

१. भारत भारती – मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ९१
२. मेरे पिता – इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ५६
३. रेम्जे मेकडानल्ड संदर्भांकित – भारतीय नव जागरण और स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ३

जन्म :

उन्नीसवीं शताब्दी में जब देश में नवजागरण का शंख बज रहा था, दासता के बन्धनों से स्वयं को मुक्त करने के लिए भारत माता कसमसा रही थी, तभी अपने युग के प्रतिनिधि के रूप में स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व नाम महात्मा मुंशीराम) का आविर्भाव हुआ। भारत के आधुनिक इतिहास में महात्मा मुंशीराम का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह जहाँ आर्यसमाज के कर्णधार थे, वहीं देश के नेताओं में भी उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। समाज-सुधार, दलितोद्धार, राष्ट्रीय भावना का विकास, स्वराज्य के लिए संघर्ष आदि सभी के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। गुरुकुल-शिक्षा पद्धति की पुनः स्थापना उनका एक ऐसा कार्य है जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

महात्मा मुंशीराम का जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी सम्वत् १६१३ विक्रमी (फरवरी, १८५६) को पंजाब के जालन्धर ज़िले के तलवन नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री नानकचन्द था। पिता ने जन्म के ग्रह-लग्नों के अनुसार इनका नाम **'बृहस्पति'** रखा, किन्तु नामकरण संस्कार के समय इनका नाम **'मुंशीराम'** रख दिया गया। यही नाम प्रचलित भी हुआ।

आर्यसमाज में ही नहीं अपितु समस्त हिन्दू समाज में नाम का बहुत महत्त्व है। इसलिए माता-पिता यदि पुराण मतावलम्बी हुए तो पाधों की जन्मपत्रियों के अनुसार और आर्यसमाजी हुए तो संस्कार विधि के अनुसार सन्तान का नाम रखना बहुत आवश्यक समझते हैं। **'यथा नाम तथा गुण'** की कहावत पर हिन्दू समाज का दृढ़ विश्वास है। हमारे चरित्रनायक मृत्युञ्जय स्वामी श्रद्धानन्द के माता-पिता कट्टर पुराण मतावलम्बी थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने अपनी सन्तान का जन्म नाम पाधा की जन्मपत्री के अनुसार **'बृहस्पति'** रखा। बृहस्पति नाम व्यवहार में कभी नहीं आया। किन्तु यह नाम चरित्र नायक की जीवनी के बिल्कुल अनुरूप था। मानो पाधा जी ने मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए ही यह नाम रखा था। यह ठीक है कि आरम्भिक (सन् १८८५ तक के) स्वच्छन्द जीवन को देखते हुए यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि आचार-विचार तथा आहार-व्यवहार में भी बे-लगाम दौड़ने वाले मुंशीराम जी महात्मा पद प्राप्त करेंगे। 'गुरुकुल विश्वविद्यालय' सरीखी संस्था की स्थापना करके अट्ठारह वर्ष तक उसमें आचार्य पद को सुशोभित करेंगे। जीवन के अन्तिम हिस्से में संन्यास आश्रम में प्रवेश करने से न केवल हिन्दू समाज प्रत्युत मनुष्य मात्र की दृष्टि से **'गुरु**

पद' पर प्रतिष्ठित होंगे, और इस प्रकार जन्म नाम **'बृहस्पति'** को सार्थक करेंगे। परन्तु अपने चरित्र से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि अपने यौवन में भोग-विलास का सुखी तथा सम्पन्न जीवन बिताने वाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का पालक, महात्मा और संन्यासी बन सकता है, सरकारी नौकरी में पूर्ण ईमानदारी का जीवन बिताने वाले पिता के घर में भी राजद्रोही पुत्र पैदा हो सकता है, संसार में नायब तहसीलदारी के लिबास में प्रवेश करने वाला भी सत्याग्रही बन कर न केवल जेल जा सकता है किन्तु नेताओं में भी अग्रणी हो सकता है, नास्तिकता की लहर में पूरी आजादी का निरंकुश जीवन बिताने वाला भी धर्म पर अपना तन, मन, धन सर्वस्व न्यौछावर कर सैकड़ों हज़ारों के लिए धर्म की दृष्टि से भी मार्ग-दर्शक बन सकता है, और यत्किंचित् प्रलोभन में फँसकर युवावस्था की एक लहर में बरसों की कमाई को एक घण्टे में डुबा देने वाला भी इन्द्र की माया तक को परास्त करने वाला संयमी तपस्वी और दृढ़व्रती हो सकता है। यही इस चरित्र-नायक के जीवन का सार है। गहरे पतन के बाद इतना महान् उत्कर्ष जिस जीवन में है, वह वस्तुतः आशा का जीवन है और आदर्श जीवन है। ऐसा आदर्श जीवन की राष्ट्र की भावी सन्तान में बलवती आशा का संचार कर उसको कर्त्तव्य पथ की ओर अग्रसर कर सकता है।

पारिवारिक जीवन :

मुंशीराम अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे। इनके तीन भाई तथा दो बहनें थीं। आयु के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार था—१. सीताराम, २. प्रेमदेवी, ३. मूलाराम, ४. द्रौपदी, ५. आत्माराम, ६. मुंशीराम।

मुंशीराम का विवाह **'शिवदेवी'** के साथ हुआ था। इनके दो पुत्र **'हरिश्चन्द्र'** व **'इन्द्र'** तथा दो बेटियाँ **'वेद कुमारी'** व **'हेमन्त कुमारी'** थीं। इनके परदादा का नाम सुखानन्द था। सुखानन्द के पाँच पुत्र थे। लाला मुंशीराम जी की वंशावली—
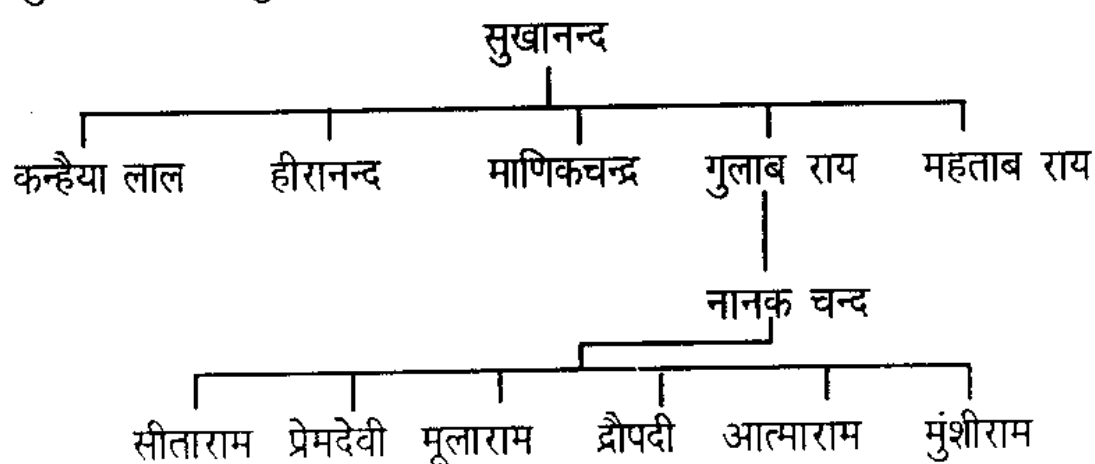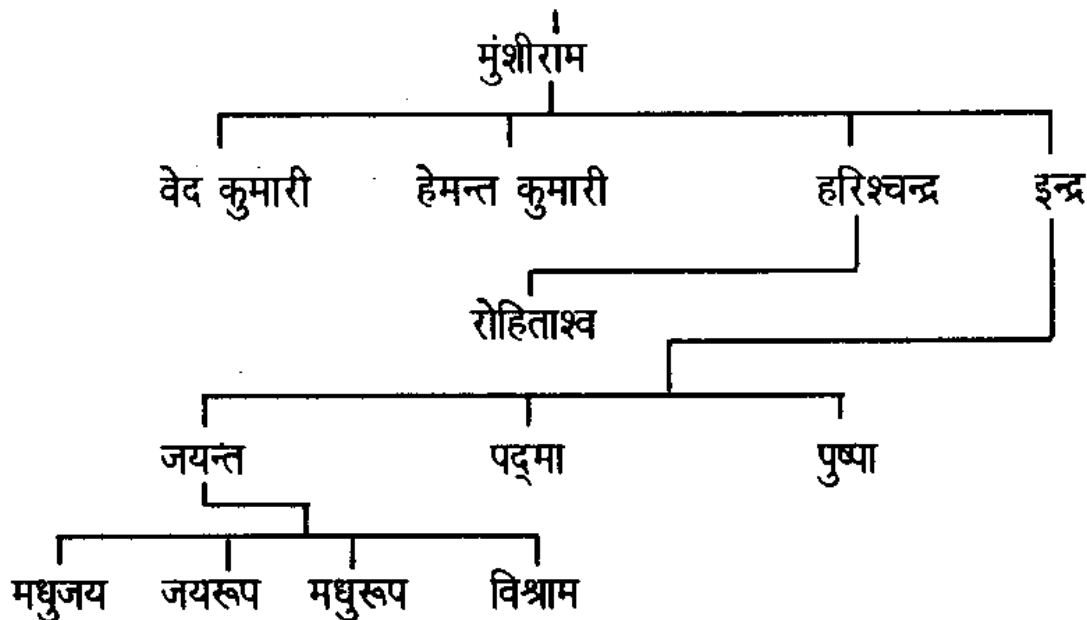
मुंशीराम का जन्म खत्री परिवार में हुआ था। कई पीढ़ियों से इनके परिवार का वातावरण भक्ति प्रधान था। इनके परदादा सुखानन्द, सुख और आनन्द की मानों मूर्ति थे। उनके मुख से कभी कोई दुर्वाक्य नहीं निकलता था। इनके दादा गुलाबराय भी हरि भक्ति में लीन रहते थे। नानकचन्द ने सुखानन्द से छोटी अवस्था में ही शिवपूजा सीख ली थी। ये नित्यप्रति शिव पूजा अर्चना किया करते थे।

मुंशीराम के पिता नानकचन्द अत्यन्त स्वाभिमानी थे, इसी स्वाभिमान की वजह से उन्हें कई जगहों से नौकरी छोड़नी पड़ी, इसलिए नानकचन्द की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में अपने पिता की आर्थिक स्थिति के बारे में लिखा है–"लाहौर जाने से पहले मेरे पिता, बिना एक पैसा दादाजी से लिए सारे परिवार से अलग हो गये, केवल एक दालान और एक कोठरी लेकर माताजी को बच्चों-सहित उसमें रख दिया। बड़ी बहन के विवाह की तैयारी थी। उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर में इतना वेतन न था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत से न गिर जाय। इधर विवाह में नाक कटने का डर और उधर सम्वत् १९१४ विक्रमी का विप्लव जिसे गोरों ने गदर की संज्ञा दे रखी थी।"[1]

मुंशीराम का जीवन प्रारम्भ में सुख-सुविधाओं के कारण विशृंखलित रहा। बाद में सुधार आया तो पत्नी-विछोह हो गया जिससे छोटे-छोटे बच्चों का भी भार उन पर पूर्ण रूपेण आ गया।

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० १६

शिक्षा-दीक्षा :

मुंशीराम की शिक्षा वाराणसी के सरकारी स्कूल और इलाहाबाद के म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में हुई। बनारस में थोड़े दिन तो घर पर ही फ़ारसी पढ़ाने की व्यवस्था की गई, परन्तु शीघ्र ही इन्हें एक अच्छे स्कूल में भर्ती करा दिया गया। एक वर्ष बाद पिता के साथ बलिया आ गये। यहाँ पर एक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने के लिए भेजे गये। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए बनारस के ही क्वीन्स कॉलेज में प्रविष्ट हुए।

परन्तु अब मुंशीराम का जीवन स्वतंत्र रूप से व्यतीत होता था। माता-पिता दूर थे। जब नवीं श्रेणी की परीक्षा निकट हुई तो मुंशीराम को बलिया से पत्र आया कि परीक्षा देकर तलवन (घर) चले जाना। जब अंग्रेजी का अन्तिम पत्र था तो सूचना मिली कि इस पत्र की परीक्षा दो दिन बाद पुनः देनी होगी क्योंकि वह पत्र प्रगट (आउट) हो चुका था। इधर मुंशीराम माता से मिलने को आतुर हो रहे थे। और दो दिन बाद होने वाली परीक्षा को छोड़कर घर चले गये। परिणाम यह हुआ कि परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। दूसरे वर्ष में उनका मन अपनी कक्षा में दूसरे (नये) विद्यार्थियों के साथ नहीं लगता था और साथ ही उन्हें अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने का व्यसन लग गया था। इसलिए दूसरे वर्ष भी अनुत्तीर्ण हो गये। इस तरह से मुंशीराम को मैट्रिक पास करने में तीन वर्ष अधिक लगे। मैट्रिक की परीक्षा मुंशीराम ने ईसाइयों के जयनारायण कॉलेज में पास की, जहाँ वह पहले स्कूल में मन न लगने के कारण दाखिल हो गये थे। बाद में मुंशीराम ने 'म्योर सैन्ट्रल कॉलेज' में प्रवेश लिया। वहाँ से रसायन व मनो विज्ञान में अधिक रुचि लेने लगे थे। मनो विज्ञान में तो उन्होंने इतनी अधिक रुचि ली कि अन्य विषयों को पढ़ना ही छोड़ दिया। परीक्षा निकट आने पर मुंशीराम जी ने दिन रात अन्य विषयों की तैयारी की जिसके कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। रुग्ण होने से वे रसायन आदि का पत्र न दे सके। अन्य विषयों में ७० प्रतिशत नम्बर आने पर भी आप असफल रहे। सम्वत् १६३७ में मुंशीराम लाहौर पहुँचे और कानून की श्रेणी लॉ कॉलिज में भर्ती हो गये। परन्तु धार्मिक गतिविधियों एवं घर के कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण उनकी उपस्थिति परीक्षा में बैठने के अनुपात से कम रह गयी इसलिए परीक्षा में सम्मिलित न हो सके। बाद में उन्होंने मुखत्यार की परीक्षा की तैयारी आरम्भ कर दी और परीक्षा में पास हो गये। सम्वत् १६३८ में फिर वे लाहौर में कानून कालिज में भर्ती हो गये। कानून की परीक्षा दी और अच्छे नम्बरों से वकालत पास की।

ब्रिटिश शासन में पुलिस अधिकारियों को धन की कमी नहीं थी। इसलिए मुंशीराम को घर से पर्याप्त धन मिल जाता था। पिता का पुलिस अधिकारी होना, धन का पर्याप्त मिल जाना और स्कूल के स्वच्छन्द वातावरण में वे अपनी इन्द्रियों पर

संयम न रख सके। वे पाश्चात्य सभ्यता की ओर आकर्षित हाने लगे और उन्हें ईश्वर की सत्ता पर भी सन्देह होने लगा। परन्तु वे इस स्थिति में अधिक समय तक नहीं रहे। सन् १८७० में महर्षि दयानन्द प्रचार करते हुए बरेली पहुँचे। मुंशीराम जी के पिता लाला नानकचन्द बरेली में कोतवाल थे और वे भी महर्षि के व्याख्यान सुनने आया करते थे। नानकचन्द जी को लगा कि इनके उपदेश से मेरे पुत्र के सन्देह अवश्य दूर हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने घर आकर मुंशीराम से कहा कि एक दण्डी स्वामी आये हुए हैं; बड़े विद्वान् और योगी हैं, उनकी बातें सुनकर तुम्हारे मन के संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलकर उनका व्याख्यान सुनना। मुंशीराम को बरेली आकर दयानन्द के उपदेश सुनने से एक अनोखी शिक्षा मिली जिससे उनका सारा जीवन ही बदल गया। महर्षि के व्याख्यान को सुनकर उन पर जो प्रभाव पड़ा उसे उन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है–"मैंने बड़े-बड़े वक्ताओं के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो ओज महर्षि की वाणी में था। वह अन्य कहीं नहीं पाया। उनके भाषण से श्रोताओं को जो प्रकाश मिला है, वैसा प्रकाश किसी अन्य वक्ता की वाणी से नहीं मिला।"[1]

मुंशीराम जी के जीवन में परिवर्तन लाने में उनकी पत्नी शिवदेवी की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। शिवदेवी पतिव्रता एवं सेवापरायण महिला थीं। प्राचीन काल से भारतीय परम्परा रही है कि नारी प्रथम अपने पति को भोजन खिलाती है, और बाद में स्वयं खाती है। ऐसा ही शिवदेवी भी करती थी। एक बार की बात है कि मुंशीराम जी रात देर से शराब पीकर आये तो उन्हें कुछ भी होश नहीं था। उनकी पत्नी उन्हें सहारा देकर अन्दर ले गई और खाट पर लिटा दिया। भोजन किये बिना सारी रात पति के सिरहाने जागती रहीं। उस समय का वर्णन स्वामी जी ने इस प्रकार से किया है–"उसी समय एक नाजुक अँगुलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने खुल कर के वमन किया। अब शिवदेवी के हाथों में मैं बालक था। कुल्ला करा मेरा मुँह पोंछ कर ऊपर का अंगरखा जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही फेंक दिया। और मुझे आश्रय देकर ले गई। वहाँ पलँग पर लेटाकर मुझ पर चादर डाल दी, साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगीं। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ।"[2] श्रद्धानन्द जी ने लिखा है कि उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन मेरा जीवन ही बदल गया।

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ७६

२. वही

दूसरी घटना शिवदेवी के उदार-चरित्र पर और अधिक प्रकाश डालती है। शराब के पारसी व्यापारी का बिल इतना बढ़ गया कि तीन सौ रुपये मुंशीराम को देने हो गये। उसको तो किसी तरह कुछ दिनों के लिए टाल दिया। पर सिर पर एक चिन्ता सवार हो गई। शिवदेवी ने उसको भाँप लिया और भोजन के समय कारण जानने के लिए आग्रह किया। चिन्ता का सब कारण मालूम कर भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करने से पहले ही देवी ने हाथ के कड़े उतार कर सेवा में उपस्थित कर दिये। मुंशीराम ने संकोचभाव से कहा–"यह कैसे हो सकता है ? तुमको आभूषित करने के स्थान में आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूँ।" देवी ने तुरन्त दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा–"एक जोड़ी पिताजी ने और दूसरी जोड़ी श्वसुर जी ने दी थी। इनमें से एक व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है, जब तन आपका है तब इसके लेने में संकोच क्यों है ? आपकी चिन्ता दूर करने का यह कोई महँगा सौदा नहीं।"[1] कड़े बेचकर बिल अदा किया गया। बाकी रुपये शिवदेवी के सन्दूक में ही रख दिये और यह संकल्प लिया कि कमाने के बाद इस रकम को पूरा कर के पहले जोड़ी बनवाई जायेगी।

शिक्षा वास्तव में जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति औपचारिक रूप से तो विद्यालय आदि की परीक्षाएँ पास कर ही लेता है लेकिन कभी-कभी अनुभव द्वारा ऐसी शिक्षा मिल जाती है कि सारा जीवन ही बदल जाता है। महर्षि दयानन्द और शिवदेवी के कारण मुंशीराम का भी जीवन बदल गया।

चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए उन्होंने किसी के कहने से संन्यास की दीक्षा नहीं ली थी बल्कि स्वयं ही उन्होंने श्रद्धा के वशीभूत होकर संन्यास लिया था। क्योंकि स्वामी जी के जीवन का यदि कोई केन्द्रबिन्दु था, तो वह थी श्रद्धा। उन्हीं के शब्दों में–"श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्या देवी है। अब भी श्रद्धा से प्रेरित होकर ही संन्यास आश्रम में प्रवेश कर रहा हूँ। इसलिए यज्ञ-कुण्ड की अग्नि को साक्षी कर अपना नाम **'श्रद्धानन्द'** रखता हूँ। जिससे अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूँ।"[2]

मुंशीराम बहुत भटके लेकिन अब जैसे उन्हें दिशा मिल गई थी। आवारा को मसीहा बना देने वाली दिशा। उसी दिशा के कारण विलासी और नास्तिक मुंशीराम ने महात्मा मुंशीराम और फिर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द का नाम पाकर ख्याति अर्जित

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ६६

२. वही, पृ० ८१

की। वर्षों बाद सन् १६२५ में महर्षि दयानन्द के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा–"ऋषिवर तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्मल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने हमारी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, उसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सत्संग ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया है।"[1]

धार्मिक विश्वास :

मुंशीराम के पिता लाला नानकचन्द ऊँचा पद प्राप्त करने के बाद भी नित्यप्रति शिव-पूजा किया करते थे। पिता को प्रेमभाव से पूजा करता देखकर मुंशीराम और उसके भाई को भी पूजा करने की सूझी। पूजा के लिए वे दोनों एक टूटे-फूटे मन्दिर से एक शिवलिंग उठा लाये जिस पर वर्षों से पानी की एक बूँद तक न पड़ी थी। उसी पर दोनों ने जल चढ़ाने का अभ्यास शुरू किया। विद्यालय से आकर भी ये रामायण का पाठ सन्ध्या समय किया करते थे। बालक मुंशीराम को सिद्धान्त की त्रुटि का ज्ञान भले ही न हो परन्तु परिस्थिति ने इनके जीवन को धर्म की तरफ झाँकने में निःसन्देह बड़ी सहायता की।

मुंशीराम का धार्मिकता की तरफ झुकाव होने का एक कारण यह भी बना कि एक बार वह बाँदा में बीमार हो गये। डॉक्टरों व हकीमों की दवा से उन्हें आराम न हुआ। बाँदा में ही एक बुद्ध भगत रहते थे। प्रारम्भ में वे निकृष्ट प्रवृत्ति के थे। परन्तु रामायण सुनने से उन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि उनकी धार्मिक कार्यों में रुचि होने लगी। वे तन, मन और धन से लोगों की सेवा करने लगे। बुद्ध भगत की दवा से ही मुंशीराम को आराम हुआ था। बुद्ध भगत की रामायण-कथा का प्रभाव उन पर भी पड़ा और प्रत्येक रविवार को एक टाँग पर खड़े होकर 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते।

उसी क्रम में मुंशीराम जी ने विश्वनाथ जी के मन्दिर में जाना प्रारम्भ कर दिया था। वे नित्यप्रति मन्दिर में जाया करते थे। एक दिन उन्हें देर हो गई और मन्दिर में देर से पहुँचे। जैसे ही वे मन्दिर के निकट पहुँचे तो द्वारपाल ने उन्हें रोक दिया। और कहा कि रीवाँ की महारानी इस समय पूजा कर रही हैं। जब तक वह पूजा

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ८

नहीं कर लेतीं तब तक दूसरा कोई नहीं जा सकता। मुंशीराम का विश्वास उसी दिन से मूर्ति-पूजा से हट गया। उन्हीं के शब्दों में–"मुझे खिसियाता देख पुलिस मैन ने जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, वहाँ मोढ़ा बैठने को रख दिया। मैं एक पल के लिए बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गये। इस रुकावट के लिए मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती। जी घबड़ा उठा, मैं उठा और उल्टा चल दिया। पहरे वाले ने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया।"[1]

मूर्ति-पूजा से विश्वास उठने के बाद उनका झुकाव ईसाई धर्म की तरफ हुआ। एक दिन उनकी रोमन कैथोलिक पादरी लीफू से बात चीत हुई। पादरी लीफू की व्यवहार-कुशलता व विनयशीलता से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ईसाई बनने का निश्चय कर लिया। एक दिन वे बपतिस्मा लेने फादर लीफू के पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने जो देखा वह उन्हीं के शब्दों में द्रव्टव्य है–"स्वाध्याय के कमरे में वे थे नहीं, मैंने अन्दर कमरे का पर्दा उठाया, पादरी साहब तो वहाँ थे नहीं, परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्य वस्त्र-धारिणी (Nun) को ऐसी घृणित दशा में पाया कि मैं उल्टे पाँव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।"[2]

इस प्रकार वे ईसाई होने से भी बाल-बाल बचे।

मुसलमानी मत की तरफ से तो वे पहले से ही उदासीन थे, क्योंकि उनके पिता के पास जो उन लोगों के मुकदमें होते थे, उनमें उनके आचार व व्यवहार अच्छे न थे। इन सब घटनाओं को देखकर वे नास्तिक बन चले थे।

१४ श्रावण सम्वत् १६३६ के दिन स्वामी दयानन्द बरेली पहुँचे। उनके पहुँचते ही मुंशीराम के पिता को जो इस समय बरेली के कोतवाल थे, आज्ञा हुई कि पं० दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर दंगा रोकने का बन्दोबस्त कर दें। कोतवाल साहब ने व्यवस्था करने के साथ-साथ स्वामी जी के व्याख्यानों को बड़े मनोयोग से सुना। उन्हें कुछ ऐसा लगा कि स्वामी जी के व्याख्यान नास्तिक मुंशीराम को सुमार्ग पर ला सकते हैं। घर आते ही उन्होंने पुत्र से कहा–"बेटा मुंशीराम, एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे, कल मेरे साथ चलना।"[3]

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० १८

२. वही

३. वही, पृ० १०५

मुंशीराम ने 'हाँ' तो कर दी, किन्तु मन में विचार रहा कि यह केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात करेगा ? फिर भी दूसरे दिन पिताजी के साथ व्याख्यान-स्थल पर बेगम बाग की कोठी पहुँच गये। वहाँ का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने स्वयं लिखा है कि–"उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देखकर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी.जे. स्काट और दो-तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और बढ़ी। अभी १० मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया–यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए भी ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है, कि विद्वान् दंग हो जायें। व्याख्यान परामात्मा का निज नाम 'ओ३म्' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी नहीं भूल सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"[१]

स्वामी जी लिखते हैं कि–"उन दिनों मुझे अपने नास्तिकपन पर अभिमान था। और मैंने ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाला परन्तु पाँच मिनट के ही प्रश्नोत्तर में मेरी जिह्वा पर मोहर लग गयी। अगले दिन फिर मैं तैयारी कर के गया, परन्तु फिर मुझे हार खानी पड़ी। तब मैंने कहा था महाराज आपने मुझे अपनी तर्क शक्ति से चुप तो करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि ईश्वर कोई हस्ती है। तब महाराज हँसे, फिर गम्भीर स्वर से कहा, "देखो, तुमने प्रश्न किये मैंने उत्तर दिये– यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर जमा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा तब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देगा।"[२]

कठोपनिषद् में भी इसी बात को कहा गया है–

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेध्या न बहुना श्रुतेन।
यमेनैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥"[३]

अर्थात्–न तो यह वेद के प्रवचन से प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धि से मिलता है और न जन्मभर शास्त्रों के श्रवण करने से ही मिलता है। यह मिलता उसी को है जो इसे पाने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो जाता है।

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन में ऋषि दयानन्द के सान्निध्य से एक नई ज्योति का प्रकाश हुआ। जिससे उनकी आस्था पुनः परमेश्वर के अस्तित्व पर होने लगी। बाद में तो वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए वे ईश्वर भक्त बन गये।

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० १०५
२. वही, पृ० ७७
३. कठोपनिषद् १/२/२३

उन्होंने अपना तन-मन-धन सब कुछ दूसरों की सेवा में समर्पित कर दिया था।

गुरुकुल की स्थापना :

मुंशीराम जी महर्षि दयानन्द के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुकरण करने लगे थे। प्रतिदिन आर्यसमाज में जाना उनके जीवन का एक अंग बन गया था।

बीच में एक समय ऐसा आया कि महिलाओं को शिक्षा से वंचित रखा गया, जिसका परिणाम यह निकला कि देश में अच्छे नागरिकों का निर्माण होना प्रायः बन्द-सा हो गया था। **'माता निर्माता भवति'**—माँ बच्चे का निर्माण करने वाली होती है और यदि वही अशिक्षित होगी तो बच्चे को सुसंस्कृत कौन करेगा। इस कमी को महर्षि दयानन्द ने महसूस किया और पुनः नारी-शिक्षा की बात उठाई। महर्षि दयानन्द ने नारी-शिक्षा के लिए जहाँ वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया वहाँ पर मुंशीराम ने इसे क्रियात्मक रूप दिया। मुंशीराम ने लाला देवराज के साथ मिलकर कन्या पाठशाला की स्थापना जालन्धर में की जो बाद में कन्या महाविद्यालय नामक शिक्षण संस्थान के रूप में प्रसिद्ध हुई।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में आर्यों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि महर्षि दयानन्द के शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों को पूर्ण करने के लिए एक गुरुकुल की स्थापना की जाय। इस कार्य को पूर्ण करने के लिए महात्मा मुंशीराम ने बीड़ा उठाया, इसके लिए उन्होंने ४० हजार रुपये एकत्र किये। महात्मा मुंशीराम का गुरुकुल खोलने का संकल्प २ मार्च, सन् १६०२ ई० को पूरा हुआ। गुरुकुल की स्थापना काँगड़ी गाँव में की गई जो पहले बिजनौर जिले में आता था। इस समय यह **'पुण्य भूमि'** (गुरुकुल काँगड़ी) हरिद्वार जिले के अन्तर्गत आती है। गुरुकुल के लिए मुंशी अमन सिंह ने १२०० बीघे जमीन दान में दी। यह स्थान झाड़ियों से भरा हुआ और बड़ा डरावना था। इन्द्र जी लिखते हैं कि हरिद्वार रेलवे स्टेशन से उस भूमि तक पहुँचने में हमें साढ़े नौ घंटे लगे। वैसे यह फासला कुल चार मील का था। अब आप कल्पना कर सकते हैं कि मार्ग कितना भयावह रहा होगा। ऐसी जगह स्वामी जी ने गुरुकुल बनाने के लिए कितना परिश्रम किया होगा। परन्तु स्वामी जी को एक ही धुन सवार थी कि 'वेद के अनुसार गुरुकुल की स्थापना करना'—

'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत्॥''

अर्थात्—पर्वतों की गुफाओं में और नदियों के संगम पर विशेष कर्म (योगाभ्यास) करने से मनुष्य ज्ञानी बनता है।

---

१. सामवेद, अध्याय २, मन्त्र १४३

गुरुकुल के प्रारम्भिक रूप को जानने के लिए इन्द्र जी का यह कथन द्रष्टव्य है–"घने जंगल के बीचों-बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया। उसमें एक ओर फूस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी जो छात्रों के रहने का आश्रयस्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन-भण्डार था। उनके बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था, जो प्रधान जी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। उन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डाल कर गोशाला बनाई गई। यह फूस के छप्परों का डेरा उस खिली चाँदनी में अद्‌भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुँच गये हैं, यह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था।"[१]

प्रारम्भ में गुरुकुल का संचालन आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब करती थी। स्वामी जी के इस उत्कृष्ट स्मारक के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का कथन है कि–"स्वामी जी का देहान्त हुआ ही नहीं है। देहान्त तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेंगे **अगर्चे** कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने का नहीं है। जब तक यह गुरुकुल कायम है, तब तक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है, तब तक स्वामी जी जीवित ही हैं। स्वामी जी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही, पर स्वामी जी का सबसे बड़ा काम गुरुकुल है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति इसमें लगा दी थी, इसे पैदा करने में उन्होंने अधिक से अधिक तपश्चर्या की थी।"[२]

आज यह गुरुकुल उन्नति के शिखर पर आरूढ़ है। यह सब स्वामी जी के तप और त्याग का ही परिणाम है। स्वामी जी ने अपने जीवन काल में गुरुकुल की कई शाखायें भी स्थापित की थीं। गुरुकुल की पहली शाखा की स्थापना महात्मा मुंशीराम ने १३ फरवरी, सन् १६०६ को मुलतान में की थी। इसके लिए रईस चौधरी रामकृष्ण ने खुले दिल से दान दिया था। इसका नाम शाखा गुरुकुल **'देवबन्धु'** रखा गया था। बाद में शहर से दो-तीन मील दूर ताराकुण्ड के समीप इसे बनाया गया।

दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में सम्वत् १६६६ में वैशाख बदी प्रतिपदा को महात्मा मुंशीराम ने आधारशिला रखकर, स्थापित की। इसके लिए थानेसर के रईस स्वर्गीय ज्योति प्रसाद ने खुले दिल से दान दिया था। स्वास्थ्य की दृष्टि से यहाँ की जलवायु

---

१. मेरे पिता – पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ५५

२. स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण व्यक्तित्व - संपादक डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ३४

अति उत्तम है। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के बाद दिल्ली रहते हुए जब भी कभी विश्राम की आवश्यकता अनुभव होती थी, तब महात्मा जी यहाँ ही चले आते थे। इनको इस शाखा से कुछ विशेष प्रेम था।

तीसरी शाखा इन्द्रप्रस्थ के नाम से सम्वत् १६७० ई० में दिल्ली से १२ मील दूरी पर स्थापित की गई। इसकी आधारशिला भी स्वामी जी ने रखी थी। इसके लिए स्वर्गीय दानवीर रग्घूमल ने विशेष दान दिया था।

चौथी शाखा **'गुरुकुल मटिण्डू'** के नाम से जानी जाती है। यह हरियाणा प्रदेश के यमुनानगर जिले में मटिण्डू गाँव के पास यमुनानगर के किनारे अत्यन्त रमणीक और एकान्त में स्थित है। इसकी आधारशिला स्वामी जी ने सम्वत् १६७२ में संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के बाद रखी थी।

पाँचवीं शाखा गुरुकुल रायकोट लुधियाना जिले में है। स्वामी जी ने इसकी आधारशिला आश्विन बदी द्वादशी सम्वत् १६७६ को रखी थी। महर्षि दयानन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर १८ फरवरी सन् १६२८ को उनकी स्मृति में स्वामी जी ने गुजरात प्रान्त में सूया नामक गाँव के समीप गुरुकुल विद्या मन्दिर सूया की स्थापना की थी।

इस समय देहरादून में स्थित कन्या गुरुकुल भी गुरुकुल काँगड़ी की शाखा है। इसकी स्थापना स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी ने दिल्ली दरियागंज में एक कोठी किराये पर लेकर ८ नवम्बर १६२३ को दीपावली के शुभ दिन पर स्वामी जी के द्वारा कराई थी।

इसके अलावा भटिण्डा, झज्जर (रोहतक), कमालिया (मिण्टगुमरी) आदि में भी गुरुकुल की शाखायें खुल चुकी हैं।

राजनीति में योगदान :

आर्यसमाज में आने के बाद ही मुंशीराम जी ने देशहित के कार्य करने प्रारम्भ कर दिये थे। वे राष्ट्रोत्थान के लिए अपने को हर समय तैयार रखते थे। मुंशीराम का सम्वत् १६६५ ज्येष्ठ मास में नेशनल पॉलिटिकल कांग्रेस के साथ सम्बन्ध हुआ। इससे पूर्व प्रयाग से प्रकाशित होने वाले पायोनियर और लाहौर से प्रकाशित होने वाले ट्रिब्यून के माध्यम से कांग्रेस के विषय में वे सब-कुछ जानते थे।

महात्मा गांधी के साथ मिलकर ३० मार्च, १६१६ को स्वामी जी ने रौलेट एक्ट का प्रबल विरोध किया। दिल्ली में उस दिन पूर्ण हड़ताल रही परन्तु रेलवे स्टेशन के एक ठेकेदार ने दुकान बन्द करने से मना कर दिया। इससे भीड़ व पुलिस में कुछ कहासुनी हो गई। गोली चलने से घायल होने के समाचार मिलने लगे थे। बीस-

पच्चीस हजार की भीड़ सभा करने के बाद जब वापस जाने लगी तो चाँदनी चौक में घंटाघर पर पहुँचते ही अचानक कहीं गोली चल गयी। वहाँ जो कुछ हुआ वह इन्द्र जी के शब्दों में द्रष्टव्य है–"लोग नारे लगाने में व्यस्त थे और तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आते देखकर घबरा गये और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सँभालने लगे कि जैसे गोली छोड़ने के समय सँभालते हैं, इतने में एक गोली चली और लोग विक्षुब्ध हो गये। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़ कर सिपाहियों के ठीक सामने जाकर खड़े हो गये, पूछा–"तुमने गोली क्यों चलाई ?"

"इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा–"हट जाओ नहीं तो हम छोड़ देंगे।" स्वामी जी एक कदम और बढ़ गये। अब संगीन की नोंक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े उच्च स्वर से कहा "मार दो"।

यह दृश्य शायद मिनट-भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा भगाते हुए आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा–"गोली क्यों चलाई गयी"? अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया–"गोली भूल से चल गई थी।"[1]

यह आन्दोलन पूर्ण रूप से सफल रहा और इसकी सफलता का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को ही था।

सन् १६१६ ई० में अमृतसर में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष का कार्यभार सम्भालना स्वामी जी जैसे निर्भीक व्यक्ति का ही काम था। उस समय पर वहाँ की जनता जलियाँवाला बाग काण्ड और फौजी कानूनों से आतंकित थी। उन्होंने सन् १६२३ ई० में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जेता शहर में सिक्खों द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन का भी नेतृत्व किया। सन् १६२३ में ही आगरा में 'भारतीय शुद्धि सभा' की स्थापना की। वे राजनीति धर्मभाव से प्रेरित होकर मानव मात्र के हित के लिए करते थे। उन्होंने जामा मस्जिद के चैम्बर में ४ अप्रैल, १६१६ को वेद का मन्त्र बोलकर हिन्दू-मुस्लिम एकता की अपील की थी।

---

१. मेरे पिता – पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० २१०, २११

निधन :

अन्तिम दिनों में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शुद्धि पर बहुत ही बल दिया। जो आर्य भाई किन्हीं भी कारणों से विधर्मी बन गये थे, या बना दिये गये थे, उन्हें स्वामी जी ने शुद्ध कर के पुनः आर्यधर्म ग्रहण करवाया। इस शुद्धि आन्दोलन के कारण ही स्वामी जी विधर्मियों के कोपभाजन बने।

२३ दिसम्बर, १९२६ को सायं पौने चार बजे स्वामी जी शौचादि से निवृत्त होकर जीने से ऊपर गये ही थे, कि थोड़ी देर बाद एक युवक के पैरों की जीने से आते हुए आहट सुनाई दी। उस युवक को सेवक धर्मसिंह ने रोका। स्वामी जी ने आवाज सुन ली और कहा–युवक कौन है ? पता चला कि युवक एक मुसलमान है, और उसका नाम अब्दुल रसीद है। वह कुछ धर्म के विषय में बात चीत करना चाहता था। स्वामी जी ने उसके आग्रह को बीमार होते हुए भी स्वीकार कर लिया। परन्तु कौन जानता था कि इस युवक की नीयत खराब है। उसने पीने के लिए पानी माँगा। सेवक पानी लेने के लिए नीचे गया ही था कि उस युवक ने स्वामी जी के सीने में तीन गोलियाँ दाग दीं। स्वामी जी ने तुरन्त प्राण त्याग दिये। इस समय उनकी यही कामना रही कि–"हे प्रभो ! मैं फिर भारत में जन्म लेकर शुद्धि द्वारा देश और जाति की सेवा करूँ।"

स्वामी जी के द्वारा मृत्यु का वरण कर लेने के बाद गांधी जी ने लिखा था–"मृत्यु किसी समय भी सुखदायक होती है, उस वीर के लिए दुगुनी सुखदायक होती है जो अपने ध्येय और सत्य के लिए प्राणों का विसर्जन करता है। इसलिए मैं उनकी मृत्यु पर शोक नहीं मना सकता। उनसे और उनके अनुयायियों से मुझे एक प्रकार से ईर्ष्या होती है, क्योंकि यद्यपि श्रद्धानन्द जी मर गये हैं, तथापि वे जीवित हैं। वे उससे भी अधिक सच्चे अर्थ में जीवित हैं। जब वे अपनी विशाल देह के साथ हमारे बीच में विचरण करते थे। जिस कुल में उनका जन्म हुआ था और जिस देश के साथ उनका सम्बन्ध था वे उनकी इस प्रकार की शानदार मृत्यु पर बधाई के पात्र हैं। वे वीर के समान जीये और वीर के समान मरे।"[१]

गांधी जी में मनुष्य को पहचानने की अद्‌भुत क्षमता थी। अनेक मतभेदों के बावजूद इनका यह मूल्यांकन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने स्वामी जी को मात्र साहसी और वीर पुरुष ही नहीं कहा है, अपितु भय को जीतने वाला कहा है, और जो भय को जीत लेता है, वह घृणा को भी जीत लेता है। वह सचमुच पुरुषों में पुरुष और नरों में नर होता है, अर्थात् वह नारायण का सखा नर होता है।

---

१. भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द – विष्णु प्रभाकर, पृ० ७

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) जी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची

क्रम	नाम पुस्तक	प्रकाशन-वर्ष
१.	आर्य संगीतमाला	१६१०
२.	ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार (भाग-१)	१६१०
३.	वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति	१६११
४.	पारसी मत और वैदिक धर्म	१६१६
५.	मातृभाषा का उद्धार	१६१६
६.	वेद और आर्यसमाज	१६१६
७.	आर्यों के नित्य कर्म-पद्धति	१६१६
८.	पञ्च महायज्ञ विधि	१६१६
६.	विस्तार पूर्वक सन्ध्या-विधि	१६१६
१०.	आचार-अनाचार और छूतछात	१६१६
११.	ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज	१६१६
१२.	उत्तराखण्ड की महिमा	१६१७
१३.	मानव धर्म शास्त्र तथा शासन पद्धति	१६१७
१४.	आदिम सत्यार्थ प्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त	१६१७
१५.	जाति के दीनों को मत त्यागो	१६१६
१६.	गढ़वाल में विक्रमी १६६५ का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल दल का कार्य	१६१६
१७.	बन्दीघर के विचित्र अनुभव	१६२३
१८.	कल्याण मार्ग का पथिक	१६२४
१६.	हिन्दुओं, सावधान तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया	१६२४
२०.	वर्तमान मुख्य समस्या अछूतपन के कलंक को दूर करो	१६२४
२१.	आर्य पथिक लेखराम	१६२५
२२.	मुक्ति सोपान	१६२५
२३.	आर्यों के नित्यकर्म	१६२५
२४.	धर्मोपदेश	१६१६

उर्दू में लिखित पुस्तकें

१.	वर्ण व्यवस्था	१८६१
२.	एक मांस-प्रचारक महापुरुष की गुप्तशीलता का प्रकाश	१८६५
३.	क्षात्र धर्म पालन का गैर मामूली वाकया	१८६५
४.	यज्ञ का पहला अंग	१८६७
५.	उपदेश मञ्जरी	१८६८
६.	आर्यसमाज के खानाजाद दुश्मन	१८६८
७.	सुबहे-उम्मीद	१८६८
८.	पुराणों की नापाक तालीम से बचो	१८६६
६.	'सद्धर्म प्रचारक' पर पहला लायबल केस	१६०१
१०.	महात्मा मंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ	१६०४
११.	दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तान	१६०६
१२.	मेरी जिन्दगी के नशेबो-फराज	१६११
१३.	हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद की कहानी	१६२४
१४.	अन्धा एकता और खुफिया जिहाद	१६२४
१५.	मुहम्मदी साजिश का इंसाफ	१६२४
१६.	अछूतोद्धार एक फोरी मसला	
१७.	मेरा आखिरी मश्वरा	
१८.	दाइ-ए-इस्लाम या तनाही-ए-इस्लाम	

अंग्रेजी में लिखित पुस्तकें

१.	दि फ्यूचर ऑफ आर्यसमाज – ए फोरकास्ट	१८६३
२.	दि आर्यसमाज एण्ड डिट्रेक्टर्स – ए विण्डीकेशन	१६१०
३.	हिन्दू संगठन सेवियर ऑफ दि डाइंग रेस	१६२६
४.	इनसाइड कांग्रेस	१६२६

पत्र एवं पत्रिकाएँ

१.	सद्धर्म प्रचारक	उर्दू	१६ फरवरी	१८८६ से १६०७ तक
२.	सद्धर्म प्रचारक	हिन्दी	०१ मार्च	१६०७ से १६१५ तक
३.	श्रद्धा	हिन्दी		१६२० से १६२१ तक
४.	लिबरेटर	अंग्रेजी		१६२६

द्वितीय अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा सम्पादित पत्रों का परिचय

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा सम्पादित पत्रों का परिचय देने से पूर्व पत्रकारिता का प्रारम्भ एवं हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है ।

पत्रकारिता का प्रारम्भ :

घर, परिवार, शहर, प्रान्त, देश और सारे संसार के समाचार और हालात जानने की इच्छा और आवश्यकता सभी महसूस करते हैं । हमारे कुछ ऐसे विचार भी होते हैं, जिन्हें हम दूसरों तक पहुँचाना चाहते हैं । इन सूचनाओं के सम्प्रेषण को देखते हुए हम नारद मुनि को सभी पत्रकारों का पूर्वज कह सकते हैं । महर्षि नारद विश्व के सभी स्थानों का भ्रमण कर समाचार-संचय एवं उनका यथासमय प्रचार किया करते थे, जिससे सम्बन्धित व्यक्ति तदनुसार अपना कार्य सम्पादन कर सकें । महर्षि नारद को उस समय तथा आज भी बहुत से लोग खुराफाती तथा एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने वाला मानते हैं । परन्तु ऐसा सोचना नारद की महानता का अवमूल्यन करना है, क्योंकि नारद ने जो कार्य हाथ में लिया था, उसके पीछे केवल लोक-हित की भावना काम कर रही थी ।

प्राचीन काल में राजा की आज्ञा को जनता तक पहुँचाने के लिए शिलालेखों आदि का प्रयोग किया जाता था । इस तरह हम कह सकते हैं कि पहले समाचार पत्थरों पर लिखे हुए होते थे । पुराने जमाने में प्रकाशन और छपाई की सुविधा तो होती नहीं थी इसलिए यूरोप और पश्चिम एशिया के देशों में जासूसों और सन्देशवाहकों से खबरें इकट्ठी करने का काम लिया जाता था । हमारे देश में बनजारे व्यापार तो करते थे, लेकिन इसके साथ-साथ वे जगह-जगह घूमते थे और समाचार इकट्ठे करते थे ।

ईसा मसीह से कुछ शताब्दियों पूर्व के युग में रोमन लोग नगरों के चौकों और चौराहों में हाथ से लिखे इश्तहार दीवारों पर लगा दिया करते थे, जिनमें समाचार लिखे होते थे । इन्हें **एवटाडायूर्ना** (दैनिक घटनाएँ) कहते थे । सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में सालोन और ब्रिटेन में काफी हाउस इसलिए लोकप्रिय संस्था बन गए क्योंकि यहाँ लेखक और बुद्धिजीवी लोग सम्मिलित होते थे और समाचारों का

आदान-प्रदान करते थे। हमारे देश में लोग मेले, मण्डियों तथा उत्सवों में समाचार सुन लिया करते थे। चौपालों में हमारे ग्रामीण लोग शाम को इकट्ठे होकर आपबीती तथा जगबीती सुनते-सुनाते थे।

मुस्लिम शासन के आरम्भ से ही हिन्दुस्तानी बादशाहों ने समाचार-संकलन को महत्त्व दिया तथा प्रत्येक जिले में संवाददाता या वाकियानवीस नियुक्त किए, जो जनता की कठिनाइयों तथा शिकायतों के समाचार बादशाहों तक पहुँचाते थे। मुगलों के जमाने में वाकियानवीसों का काम जोरों पर था। अबुलफ़ज़ल ने अकबर के शासन काल में वाकियानवीसी के सम्बन्ध में लिखा है–

"देश में जो कुछ हो रहा है, उसकी जानकारी साम्राज्य की उन्नति और समृद्धि के लिए बहुत जरूरी है। इससे जनता का भी बड़ा लाभ है। वाकियानवीसी तो बहुत पुराने जमाने से चली आ रही है, लेकिन इसका सबसे अधिक लाभ अकबर महान् के शासनकाल में उठाया गया।"[1]

वाकियानवीस, खुफियानवीस (गुप्तहाल लिखने वाले), सवानेहनवीस (जीवनियां लिखने वाले) हरकारे (सन्देशवाहक जो खबरें भी सुनाया करते थे) मुगल जमाने में पत्रकारों की विभिन्न श्रेणियों के नाम थे। औरंगजेब के शासनकाल में विधिवत् रूप से समाचारपत्र भी जारी हो गए थे, यद्यपि ये सब हस्तलिखित ही होते थे।

आधुनिक पत्रकारिता :

आधुनिक पत्रकारिता का इतिहास इतना पुराना नहीं है। सन् १५६६ के लगभग यूरोप के शहरों में एक रिवाज यह था कि चौराहे पर खड़ा होकर एक आदमी हाथ से लिखे 'इश्तहार' या समाचार-पत्र पढ़कर लोगों को सुनाया करता था। यह इश्तहार सरकार की स्वीकृति से लिखा जाता था, और इसे सुनने वाले इस सेवा के लिए एक 'गजीटा' दिया करते थे। **'गजीटा'** उस समय का एक छोटा सिक्का होता था। यही है 'गजट' शब्द की उत्पत्ति जिसे आजकल हम अंग्रेजी में 'समाचार पत्र' के लिए इस्तेमाल करते हैं। इस तरह समाचार पत्रों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ।

सन् १६०६ में जर्मनी में छपा हुआ पहला समाचार-पत्र निकला। इसके बाद इंग्लैण्ड में सन् १६२० में एक समाचार-पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। फ्रांस में पहला समाचार-पत्र सन् १६३० में और संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १६६० में प्रकाशित हुआ। हमारे देश में पत्रकारिता के प्रणेता वे अंग्रेज पत्रकार थे जो १८वीं

१. संवाद और संवाददाता, पृ० ८

शताब्दी में इस देश में आए। इनमें जेम्स ऑगस्टस हिकी और विलियम ड्यूमन सरीखे पत्रकारों के नाम प्रसिद्ध हैं। हिकी का पत्र जनवरी १७८० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इस समाचार-पत्र का नाम *Hicky Bengal Gazatte and General Advertiser* था, लेकिन यह प्रसिद्ध हुआ केवल हिकी गजट के नाम से।

हिकी और ड्यूमन ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों की काली करतूतों का भण्डा फोड़ कर दिया था। ये अधिकारी इतना डर गए थे कि अगले चालीस वर्ष तक उन्होंने किसी भी पत्र का प्रकाशन सहन नहीं किया था। इस दौरान कई समाचार-पत्र स्थापित हुए, लेकिन उनके सम्पादकों को या तो बलपूर्वक इंग्लैण्ड भेज दिया गया या अन्य ढंग अपनाकर परेशान किया गया। भारत में अंग्रेज शासकों का भारतीय पत्रकारिता के प्रति क्या दृष्टिकोण था यह टॉमस मुनरो के कथन से स्पष्ट है–"हमने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव इस नीति पर रखी है कि हमने अपनी प्रजा को न तो कभी प्रेस की आजादी दी है और न देंगे। यदि यहाँ की सभी जनता हमारी तरह अंग्रेज होती तो मैं प्रेस की स्वतंत्रता की माँग स्वीकार कर सकता था, लेकिन ये तो हमारे उपनिवेश के रहने वाले यहाँ के 'नेटिव' हैं, इनको प्रेस की आजादी देना हमारे लिए खतरनाक है। विदेशी शासन और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता दोनों एक साथ नहीं चल सकते। स्वतंत्र प्रेस का पहला कर्त्तव्य क्या होगा ? यही न कि देश को विदेशी चंगुल से स्वतंत्र कराया जाए। इसलिए अगर हिन्दुस्तान में प्रेस को स्वतंत्रता दे दी गई तो इसका जो परिणाम होगा, वह दिखाई दे रहा है।"[1]

भारतवासी प्रेस यानी छपाई मशीनों का प्रयोग सीखकर कहीं अखबार निकालना न शुरू कर दें और इस तरह ब्रिटिश साम्राज्य को एक नया खतरा न पैदा हो जाए, अंग्रेजी सरकार इस बात से इतना डरती थी कि जब निजाम हैदराबाद के दरबार में नियुक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एजेन्ट ने निजाम को मुद्रण यंत्र का एक नमूना उपहार के रूप में पेश किया तो कम्पनी सरकार ने इस एजेन्ट की भर्त्सना की कि एक खतरनाक मशीन निजाम को क्यों दिखायी गई क्योंकि छापाखाना एक दिन ब्रिटिश हुकूमत के लिए बम के गोले से भी अधिक विनाशकारी साबित हो सकता है। नतीजा यह हुआ कि एजेन्ट ने अपने भाड़े के आदमी भेजकर निजाम के तोशेखाने में पडी इस मशीन को तुड़वाकर बाहर फेंक दिया।

सन् १८१८ में लार्ड हेस्टिंग्ज ने 'सेंसरशिप' उठाकर उसके स्थान पर सम्पादकों के निर्देश के लिए कुछ सामान्य नियम बना दिए और उनके द्वारा सरकार पर आक्षेप

---

१. संवाद और संवाददाता, पृ० ६

करने वाले लेखों एवं तथाकथित लोकहित को हानि पहुँचाने वाले समाचारों पर रोक लगा दी। लार्ड हेस्टिंग्ज के इस विनियमन से पत्रकारों को सुख की साँस लेने का अवकाश मिला और भारतीय पत्रकारिता ने इस नई दिशा में पग उठाया। उसी के परिणामस्वरूप बंगला में पहला पत्र सन् १८१८ में मासिक **'दिग्दर्शन'** शुरू हुआ। यह ईसाई पादरियों का पत्र था। सन् १८१८ में ही बंगला में एक और पत्रिका **'समाचार दर्पण'** नाम से प्रकाशित हुई। यह भी 'दिग्दर्शन' के संचालक पादरियों की पत्रिका थी।

भारतीय पत्रकारिता के वास्तविक जन्मदाताओं में राजाराम मोहनराय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सन् १८२१ में बंगला में **'संवाद कौमुदी'** और फ़ारसी में **'मिरातुल-अखबार'** जारी किए। उर्दू का सबसे पहला समाचार पत्र **'जामे जहाँनुमा'** था जो सन् १८२२ में शुरू हुआ।

हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भ :

हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भ कब और कहाँ तथा किस पत्र से हुआ ? यह प्रश्न कुछ समय तक विद्वानों के लिए चिन्तन का विषय रहा है। नवम्बर १६३१ से पहले तक लोगों की धारणा थी कि हिन्दी का प्रथम पत्र **'बनारस अखबार'** है, जिसका प्रकाशन राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की सहायता से सन् १८४५ में बनारस से हुआ। बंगाल के ब्रजेन्द्र नाथ वंद्योपाध्याय ने अपनी खोजों के आधार पर **'विशाल भारत'** में **'हिन्दी समाचार पत्रों की आरम्भिक कथा'** लिखी और **'उदन्त मार्तण्ड'** को हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र बताया आधुनिक अनुसंधान कर्त्ता और इतिहासकार इसे ही हिन्दी प्रथम दैनिक पत्र मानते हैं। हिन्दी में प्रकाशित आरम्भिक पत्रों का परिचय देना यहाँ अधिक समीचीन होगा।

हिन्दी का प्रथम पत्र :

हिन्दी का प्रथम पत्र **'उदन्त मार्तण्ड'** नामक साप्ताहिक था। यह पत्र ३० मई १८२६ को कलकत्ता को कोल्हूटोला के ३७ नम्बर अगरतल्ला से प्रकाशित हुआ। इसके संस्थापक व सम्पादक श्री युगलकिशोर शुक्ल थे। यह आठ पृष्ठों का पत्र था। मासिक मूल्य दो रुपए था। इस पत्र में सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति, तबादले, सरकारी विज्ञापन, बाजार की दरें, देश-विदेश के समाचार आदि छपते थे। इस पत्र की भाषा 'मध्यप्रदेशीय' अर्थात् खड़ी बोली थी। यह पत्र डेढ़ वर्ष तक जीवित रहने के बाद ११ (ग्यारह) दिसम्बर १८२७ को सदा के लिए बन्द हो गया। इसके अन्तिम अंक में सम्पादक पं० युगलकिशोर ने लिखा–

'आज दिवस लों उग चुक्यो ये 'मार्तण्ड उदन्त' ।
अस्ताचल को जात है, दिनकर दिन अब अन्त ।।'

उदन्त मार्तण्ड से पूर्व कोई भी हिन्दी समाचार-पत्र नहीं निकला था । इसकी पुष्टि उसी पत्र में प्रकाशित से टिप्पणी होती है, "यह 'उदन्त मार्तण्ड' अब पहले से पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी और फ़ारसी बंगले में जो कागज का समाचार छपता है, उसका सुख, उन बोलियों के जानने व पढ़ने वालों को ही होता है । इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ और समझ लेयँ और पराई अपेक्षा न करें और अपने भाषा की उपज न छोड़ें।"[1]

इस प्रकार यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि यह पत्र हिन्दी का पहला समाचार-पत्र होने पर भी भाषा और विचारों की दृष्टि से सुसम्पादित पत्र था ।

हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र :

हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र **'समाचार सुधावर्षण'** १८५४ के जून में कलकत्ता से ही श्याम सुन्दर सेन के सम्पादन में प्रकाशित हुआ । इसकी एक प्रति राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में तथा दूसरी बंगीय साहित्य परिषद् में सुरक्षित है । कलकत्ता अहिन्दी भाषी क्षेत्र होते हुए भी वहाँ पर हिन्दी के पत्रों का अधिक काम हुआ है । इस संबंध में पं० विष्णुदत्त शुक्ल का कथन है कि–"कलकत्ते में हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में जब इतना काम हो चुका था, तब तक दूसरे स्थान पर हिन्दी का एक भी समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं हो सका था । कलकत्ता के लिए यह गौरव की बात है कि हिन्दी जिस प्रान्त की प्रधान भाषा है, उस प्रान्त में भी जब हिन्दी का पत्र प्रकाशित नहीं हो सका था, तब कलकत्ता से एक नहीं अनेक समाचार-पत्र निकले ।"[2]

हिन्दी पत्रकारिता के प्रमुख भेद

हिन्दी पत्रकारिता अपने उद्भव काल से ही अनेक रूपात्मक रही है । जिसके प्रमुख भेद हैं–

१. राजनीतिक पत्रकारिता
२. सामाजिक पत्रकारिता
३. धार्मिक पत्रकारिता
४. साहित्यिक पत्रकारिता
५. विज्ञान पत्रकारिता
६. बाल पत्रकारिता
७. व्यवसाय पत्रकारिता
८. आंचलिक पत्रकारिता
९. फिल्मी पत्रकारिता
१०. क्रीड़ा पत्रकारिता
११. ब्रेल पत्रकारिता
१२. शिक्षा पत्रकारिता
१३. चिकित्सा पत्रकारिता

---

१. हिन्दी पत्रकारिता : विकास और विविध आयाम, पृ० २६
२. पं० विष्णुदत्त शुक्ल सन्दर्भांकित, विदेशों में हिन्दी पत्रकारिता (डॉ० पवन कुमार जैन) पृ०१२

सन् १८२४ में जब हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र **'उदन्त मार्तण्ड'** पं० युगलकिशोर शुक्ल द्वारा सम्पादित होकर अस्तित्व में आया था, तब भी उसका उद्देश्य पाठकों को विभिन्न-विषयक गतिविधियों की जानकारी कराना था। परन्तु उस समय भारत परतंत्र था, इसलिए जनता में राजनीतिक चेतना जागृत करना एक सामाजिक आवश्यकता थी। यही कारण है कि हिन्दी में राजनीतिक पत्रकारिता का इतिहास भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा हुआ है।

बाद में तो यह धारणा ही बन गई थी कि पत्रकारिता को अंगीकार करना जेल-यात्रा की तैयारी करना है। **'स्वराज्य'** के सम्पादकों ने तो राष्ट्र-प्रेम के स्वर को इतना बल दिया कि उनमें से अनेक को राजद्रोह के अपराध में अनेक बार जेल जाना पड़ा। अन्त में उन्हें यह विज्ञापन प्रकाशित करना पड़ा कि–"स्वराज्य अखबार के लिए एक ऐसा सम्पादक चाहिए जिसे दो सूखी रोटियाँ, एक गिलास ठंडा पानी और हर सम्पादकीय पर दस वर्ष की सजा मिलेगी।"[१]

राजनीतिक पत्रकारिता के इतिहास में दुर्गाप्रसाद मित्र द्वारा सम्पादित **'उचित वक्ता'** का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पत्र ने विदेशी शासकों की दमन-नीति का विरोध करते हुए तथा भारतीय भाषाओं के पत्रकारों का आह्वान करते हुए १२ मई, १८८३ के एक एंक में लिखा–"देशी सम्पादको, सावधान ! कहीं जेल का नाम सुनकर कर्त्तव्यविमूढ़ मत हो जाना, यदि धर्म की रक्षा करते हुए, यदि गवर्नमेंट को सत्परामर्श देते हुए जेल जाना पड़े, तो क्या चिन्ता है ? इसमें मान हानि नहीं होती है।"[२]

राजनैतिक पत्रकारिता का विकास विभिन्न विचार धाराओं के पोषक और समर्थक दलों की प्रेरणा, प्रभाव और सहयोग से हुआ है। इनमें गांधीवादी अहिंसक विचारधारा, हिंसामूलक क्रांतिकारी विचारधारा, साम्यवादी विचारधारा तथा पूँजीवादी विचारधारा आदि को आधार बनाया गया। इस वर्ग की पत्रिकाओं में 'स्वाधीन', 'विश्वमित्र', 'स्वतंत्र', 'विजय', 'स्वयं', 'छत्तीसगढ़ केसरी', 'हरिजन सेवक', 'मजदूर की आवाज', 'समाज', 'विप्लव', 'संघर्ष', 'अभ्युदय', 'कर्मवीर', 'वीर अर्जुन', 'सैनिक', 'हुंकार' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक पत्रकारिता का विकास विभिन्न समाज सुधारपरक आन्दोलनों की संचालक संस्थाओं से हुआ। हरिजन कल्याण, ग्रामोत्थान, अस्पृश्यता निवारण, कुरीति उन्मूलन, जाति उत्थान आदि की भावना से ओत-प्रोत पत्रिकाएँ 'दलित प्रकाश', 'वालंटियर', 'मंजिल', 'समाज सेवक' आदि हैं।

---

१. बृहत् हिन्दी पत्रकारिता कोश, सम्पादक डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० ६६६
२. वही

नारी चेतना के जागरण के आह्वान में भी हिन्दी पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्त्री-शिक्षा के प्रचार-प्रसार, पर्दाप्रथा के उन्मूलन आदि के साथ-साथ नारी जीवन के विभिन्न पक्षों का इनमें विस्तार से वर्णन होता है। इस वर्ग की पत्रिकाओं में 'मनोरमा', 'मोहिनी', 'शान्ति', 'आर्य महिला', 'कन्या', 'जननी', 'दीदी', 'नारी' आदि हैं।

धार्मिक-आध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार तथा खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को आधार बनाकर भी हिन्दी में न केवल पत्रकारिता का एक रूप विकसित हुआ बल्कि अधिकांश पत्रिकाएँ समय-समय पर विभिन्न आन्दोलनों को बल देने के लिए प्रकाशित की गईं। आर्यसमाज से सम्बन्धित 'सार्वदेशिक', 'दयानन्द सन्देश', तथा 'आर्यमित्र', सनातनधर्म से सम्बन्धित 'प्रेम संदेश', 'सन्मार्ग' तथा वेंकेटेश्वर समाचार', जैनधर्म से सम्बन्धित 'जैन जगत', 'महावीर सन्देश', 'दिगम्बर जैन', 'श्वेताम्बर जैन', बौद्धधर्म से सम्बन्धित 'धर्मदूत', ईसाई धर्म से सम्बन्धित 'भानूदय' आदि मुख्य हैं।

साहित्यिक पत्रकारिता व्यवसाय-प्रधान दृष्टिकोण से युक्त पत्रकारिता से भिन्न होती है। परन्तु दुर्भाग्यवश इसे व्यवसाय से भी जोड़ना पड़ता है क्योंकि धनाभाव में इनका चल पाना भी बड़ा कठिन कार्य है। इसी आर्थिक संघर्ष का अनुभव करके पं० प्रतापनारायण मिश्र ने जब सन् १८८३ में कानपुर से 'ब्राह्मण' का प्रकाशन आरम्भ किया तो उन्होंने प्रथम अंक में लिखा था कि–"हमारी दक्षिणा भी बहुत ही न्यून है। फिर यदि निर्वाहमात्र भी होता रहेगा तो हम चाहे जो हों, अपना वचन निबाहे जावेंगे। हमने इस पत्र को अपने लाभ की गरज से नहीं निकाला। लैं दै बराबर हो जाय यही गनीमत है।"[१]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संपादित 'कवि वचन सुधा', बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संपादित 'ब्राह्मण', महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती', प्रेमचन्द द्वारा संपादित 'हंस', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा संपदित 'मतवाला', रूपनारायण पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'माधुरी', स्वामी नारायणानन्द सरस्वती द्वारा संपादित 'कवीन्द्र' और गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' द्वारा सम्पादित 'सुकवि' आदि साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं।

---

१. प्रतापनारायण मिश्र, सन्दर्भांकित, बृहत् हिन्दी पत्रकारिता कोश, (सम्पादक प्रतापनारायण टंडन), पृ० ६७०

इनके अतिरिक्त **साहित्यिक पत्रकारिता** के क्षेत्र में 'नया समाज', 'कल्पना', 'चाँद', 'लहर', 'वीणा', 'हिमालय', और 'निकष' आदि उल्लेखनीय स्थान रखती हैं।

आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान से आज मानव इतना प्रभावित हो चुका है कि वह हमारे जीवन का अपरिहार्य अंग बन गया है। इसी कारण विज्ञान पत्रकारिता के रूप में हिन्दी पत्रकारिता का एक नवीन रूप अस्तित्व में आया।

विज्ञान पत्रकारिता का हिन्दी में आज समुचित विकास हो चुका है। सन् १९१५ में इलाहाबाद की विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान' नामक मासिक पत्रिका निकाली। इसके अतिरिक्त 'विज्ञान कला', 'विज्ञान कीर्ति', 'विज्ञान जगत', 'विज्ञान ज्योति', 'विज्ञान भारती', 'विज्ञान शिखर', 'विज्ञान पुष्प' आदि पत्र भी प्रकाशित हुए।

हिन्दी पत्रकारिता का एक रूप **बाल-पत्रिका** के माध्यम से भी विकसित हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी में बाल पत्रकारिता का उद्‌भव सन् १८८३ में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकाशित 'बाल दर्पण' पत्रिका अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। बाल पत्रिका के सम्बन्ध में डॉ० श्री कृष्णचन्द्र तिवारी 'राष्ट्र बन्धु' का कथन है कि–"बाल पत्र रंग-बिरंगे सुचित्रित और आकर्षक साज-सज्जा से युक्त होने चाहिए–इस सब में खर्च बहुत बढ़ जाता है। आज की परिस्थितियों में बच्चों के अच्छे पत्र साधन-सम्पन्न संस्थान ही प्रकाशित कर सकते हैं। छोटे साधनों से निकाल कर कोई उसे लोकप्रिय बना सके, यह कठिन कार्य है। देश की अधिकांश आबादी गाँवों और कस्बों में रहती है। वहाँ रहने वाले बच्चो के लिए विशेष रूप से कोई पत्र नहीं है। बच्चों के लेखकों को पूरा प्रोत्साहन भी नहीं मिलता। अधिकांश दैनिक पत्र बच्चों के पृष्ठ तो देते हैं, किन्तु उस पृष्ठ पर छपने वाली सामग्री के लिए पारिश्रमिक नहीं देते। बच्चों के प्रति हमारा जैसा उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण है, वैसा ही बच्चों के पत्रों तथा उसके लेखकों के प्रति भी है।"[१]

बाल पत्रिकाओं में 'आर्य बाल हितैषी', 'बाल सखा', 'बालक', चुन्नू-मुन्नू', 'किशोर', 'बानर', 'शिशु', 'बच्चों की दुनिया', 'मनमोहन', 'बाल भारती', 'होनहार', 'शेर बच्चा', 'चमाचम' आदि मुख्य हैं। वर्तमान में बालोपयोगी हिन्दी में जो पत्रिकाएँ हैं वे निम्नलिखित हैं–'चन्दामामा', 'पराग', 'नंदन', 'इन्द्रजाल कामिक्स' तथा 'लोटपोट' आदि।

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद एक ओर तो ग्रामोद्योग, गृह उद्योग, लघु उद्योग आदि को प्रश्रय दिया गया तो दूसरी तरफ भारत मशीनी उद्योग को भी संरक्षण

---

१. बृहत् हिन्दी पत्रकारिता कोश, सं०–प्रतापनारायण टंडन, पृ० ६७२

दिया गया। इस कारण व्यवसाय सम्बन्धी पत्रिकाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। इनमें 'श्री सुभाष दैनिक व्यापार पत्रिका', 'अर्हत व्यापार पत्रिका', 'व्यापार भारती', 'उद्योग विकास', 'उद्यम', 'संपदा', 'आर्थिक चेतना', 'जन उद्योग', 'योजना' आदि प्रमुख हैं।

आंचलिक पत्रकारिता का विकास ग्रामीण समाज के क्रिया-कलाप को आधार बनाकर हुआ। इसकी महत्ता को देखते हुए सन् १९७३ में 'भारतीय ग्रामीण समाचार पत्र संघ' की स्थापना हुई। इन पत्रिकाओं में 'ग्राम संसार', 'गाँव', 'चौपाल', 'गाँव की बात', 'ग्राम्य जीवन' तथा 'देहाती' मुख्य हैं। अंबिकाप्रसाद बाजपेयी का इस सम्बन्ध में कथन है कि–"जनता गाँवों में रहती है। समाचारपत्रों को गाँव के साथ सम्पर्क बढ़ाना चाहिए।"

आंचलिक पत्रकारिता में 'किसान', 'किसान भारती', 'किसान मित्र', 'किसान राज्य', 'किसान संदेश', किसानोपकारक', 'कृषक क्रान्ति', 'कृषि', 'कृषिजगत', 'कृषि प्रसाद', 'कृषि सुधार' आदि पत्र-पत्रिकाएँ मुख्य हैं।

आज हिन्दी में **फिल्मी पत्रकारिता** बहुत लोकप्रिय हो गयी है। यद्यपि आज से लगभग पचपन वर्ष पूर्व हिन्दी के साहित्यकार-पत्रकार फिल्मों से जुड़ने लगे थे, लेकिन फिर भी साहित्य और फिल्म की दूरी बनी रही। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से फिल्मी पत्रकारिता का आरम्भ सन् १९३१ में प्रकाशित 'मंच' नामक पत्रिका से हुआ था। इसी के साथ १९३२ में दिल्ली से 'नवचित्रपट' प्रकाशित हुई। इसके बाद में 'रंग भूमि', 'चित्रपट', 'रूपवन्ती', 'रसभरी', 'चित्रप्रकाश', 'कौमुदी', 'सरगम', 'कल्पना', 'शबनम' आदि पत्रिकाएँ निकलीं।

बाद में बहुरंगी पत्रिकाएँ निकलीं। जिनमें 'छायाकार', 'प्रिया', 'फिल्मी दुनिया', 'राधिका', 'मेनका', 'फिल्मी लता', 'पालकी', 'रजनीगंधा' आदि मुख्य हैं।

हिन्दी में स्वतंत्रता के बाद क्रीड़ा-जगत से सम्बन्धित क्रिया-कलाप पर आधारित **क्रीड़ा-पत्रकारिता** का उद्भव हुआ। आज देश में विभिन्न स्तरों पर न केवल विद्यालयों, महाविद्यालयों में खेलों के प्रति रुचि जागृत हो रही है बल्कि उनके विकास और प्रशिक्षण के लिए अनेक स्पोर्ट्स कॉलेज भी खुले हुए हैं। सन् १९५१ में नई दिल्ली में प्रथम एशियाई गेम्स हुए। तब से ही क्रीड़ा पत्रकारिता का स्फुट रूप से उद्भव माना जा सकता है। 'खेल खिलाड़ी', 'खेल युग', 'भारतीय कुश्ती', 'खेल समाचार' इनमें मुख्य हैं।

हिन्दी में **ब्रेल पत्रकारिता** के विकास का आधार 'ब्रेल लिपि' है। जिसके प्रवर्तन का श्रेय ठाकुर विश्वनारायण सिंह को है जो सन् १८५७ में भारत के प्रथम ब्रेल

संपादक बने। 'शिशु आलोक' तथा 'नयन रश्मि' का वे संपादन कर रहे हैं।

शिक्षा पत्रकारिता का विकास हिन्दी में परम्परागत लक्षित होता है। 'शिक्षा, 'नई तालीम', 'शिक्षण पत्रिका' एवं 'शिक्षक बन्धु' आदि मुख्य हैं।

शोध, अनुसंधान, अन्वेषण, इतिहास और पुरातत्त्व को आधार बनाकर हिन्दी पत्रकारिता का विकास हुआ। इनमें 'भारतीय विद्या', 'विकास तथा इतिहास' आदि प्रमुख हैं। साहित्यिक शोध से सम्बन्धित 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'विश्व भारतीय पत्रिका', 'शोध पत्रिका' आदि प्रमुख पत्रिकाएँ हैं।

स्वास्थ्य, आरोग्य, औषधि विज्ञान, योग एवं व्यायाम को भी आधार बनाकर हिन्दी में कुछ पत्रिकाएँ निकलीं। इनमें 'प्राकृतिक चिकित्सा', 'होम्योपैथिक चिकित्सा', 'आयुर्वेद चिकित्सा' आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार हिन्दी पत्रकारिता में अनेक भेद विकसित हुए हैं, जिनका आधार जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित क्रिया-कलाप है।

आर्यसमाज की पत्रकारिता–

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना १८७५ ई० में बम्बई में की थी। आर्यसमाज ने पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्हीं के जीवन-काल में प्रवेश किया। आर्य-समाज की स्थापना के तीन वर्ष बाद सन् १८७८ ई० में आर्यों के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रथम मासिक पत्र **'आर्यदर्पण'**[१] निकला। यह पत्र शाहजहाँपुर से प्रकाशित होता था। आर्य समाज फर्रूखाबाद की स्थापना १२ जुलाई १८७९ ई० को हुई। जुलाई १८७९ ई० में ही इस आर्यसमाज से **'भारत सुदशा-प्रवर्तक'** नामक हिन्दी मासिक पत्र निकला। यह पत्र हिन्दी का कट्टर समर्थक था।

स्वामी जी के जीवनकाल में आर्यसमाज अजमेर से सन् १८८२ ई० में 'देश हितैषी' नामक पत्र निकला। १८८४ में कानपुर से **'वेद प्रकाश'** नामक पत्र प्रकाशित

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य दर्पण' की प्रशंसा में निम्न विज्ञप्ति प्रकाशित कराई– 'आर्यदर्पण' शाहजहाँपुर इस नाम का एक मासिक पत्र उर्दू भाषा में आर्य समाज शाहजहाँपुर की ओर से प्रकाशित होता है। इसमें वेदादि सत्यशास्त्रानुकूल सनातन धर्म के विषय के व्याख्यान और आर्यसमाज के नियम-उपनियम आदि प्रकाशित होते हैं जो उसके देखने से मालूम होगा। जो इसको लेना चाहे वे अपना नाम पते सहित लिखकर मुंशी बख्तावर सिंह मैनेजर आर्य दर्पण शाहजहाँपुर के पास भेज दें, पूर्वोक्त पत्र का वार्षिक मूल्य डाक महसूल सहित तीन रुपये छः आने है। यह पत्र मेरी समझ में भी बहुत अच्छा है।"

– ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० १०९

हुआ। स्वामी जी के प्रमुख शिष्य पं० भीमसेन शर्मा ने **'आर्य सिद्धान्त'** नामक मासिक पत्र का आरम्भ किया। इसका प्रथम अंक जुलाई १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ।

महिलाओं के लिए उपयोगी मासिक पत्रिका **'भारत भगिनी'** का प्रकाशन सन् १८८८ ई० में प्रयाग से किया गया।

स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा अजमेर ने अपनी प्रवृत्तियों के प्रकाशन तथा आर्यसमाज के देशोन्नति-विषयक कार्यों को जनमानस तक पहुँचाने की दृष्टि से अपना मुखपत्र प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इस निर्णय के अनुसार **'परोपकारी'** का प्रथम अंक सन् १८८६ ई० को प्रकाशित हुआ। कलकत्ते से ही **'आर्य संसार'** आर्यों के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके सम्पादक उमाकान्त उपाध्याय और प्रकाशक महाशय रघुनन्दन लाल थे। सन् १८८७ ई० को कलकत्ता से **'आर्यावर्त'** का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसके संचालक महावीर प्रसाद और प्रथम संपादक रुद्रदत्त शर्मा थे। **'आर्य'** मासिक पत्र का प्रकाशन सन् १६१४ में लाहौर से हुआ। यह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मुख पत्र था। इसके प्रथम संपादक पं० चमूपति थे। सन् १६२४ में **'आर्य जगत्'** मासिक पत्र का प्रकाशन लाला खुशहाल चन्द के सम्पादन में आरम्भ हुआ। १६७१-७२ में इसका प्रकाशन दिल्ली से होने लगा। वर्तमान समय में यह पत्र दिल्ली से ही साप्ताहिक के रूप में निकल रहा है। नवम्बर १६०२ में लाहौर से **'आर्य जीवन'** का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसके संपादक पं० पूर्णानन्द, उपसंपादक पं० गुरुदेव थे। **'आर्य भातृ सभा'** लाहौर का यह मुख पत्र था।

आर्यसमाज की इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त अन्य पत्रिकाएँ भी हिन्दी में स्वतंत्रता से पूर्व-प्रकाशित हुई। **'बंगदूत'** १० मई, सन् १८२६ को राजाराम मोहनराय की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ था। यह पत्र अंग्रेजी, बंगला, फ़ारसी और हिन्दी में प्रकाशित होता था। इसके संपादक नीलरत्न हालदार थे। सन् १८६८ में कलकत्ता से **'भारत मित्र'** का प्रकाशन हुआ। यह पत्र प्रारम्भ में साप्ताहिक था, बाद में दैनिक हो गया। इसके जन्मदाता व संपादक छोटूलाल मिश्र थे। सन् १६३५ में यह पत्र बन्द हो गया। **'मार्तण्ड'** का प्रकाशन कलकत्ता से ११ जून, १८४६ को साप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशन हुआ। १० पृष्ठों का यह पत्र अंग्रेजी, हिन्दी, फ़ारसी, बंगला व उर्दू में प्रकाशित होता था। सन् १६२८ को **'विशाल भारत'** का प्रकाशन कलकत्ता में हुआ था। इसके संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी थे। कलकत्ता से ही **'वैश्योपकारक'**

सन् १६०४ में प्रकाशित हुआ। इसके संचालक रामलाल नेमाणी थे। १३ जनवरी, सन् १८६८ की **'सार सुरा निधि'** पत्रिका का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ। इसके संपादक सदानन्द मिश्र थे। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य देश की भाषा को उन्नत बनाना, हिन्दी भाषा का प्रचार, हिन्दी लिखने वालों की संख्या में वृद्धि करने के साथ-साथ भारतवासियों को सत्परामर्श देना था। **'हिन्दी बंगवासी'** सन् १८६० में अमृतलाल चक्रवर्ती के संपादन में प्रकाशित हुआ। लाहौर से ११ सितम्बर, १६२७ ई० को खुशहाल चन्द खुर्सन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) ने प्रकाशित कराया। इस पत्र का संपादन सुदर्शन तथा बद्रीनाथ वर्मा करते थे।

इस प्रकार स्वतंत्रता से पूर्व भारत में हिन्दी पत्रकारिता का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि बंगाल और पंजाब में हिन्दी पत्रकारिता की स्थिति सुदृढ़ थी।

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा प्रकाशित व संपादित पत्र-पत्रिकाओं का परिचय–स्वामी श्रद्धानन्द जी ने समाज सुधार के लिए जहाँ गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना एवं शुद्धि जैसे कार्य किये वहाँ पर उन्होंने हिन्दी, उर्दू एंव अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन व संपादन भी किया। स्वामी जी द्वारा संपादित व प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं का परिचय इस प्रकार है।

१. सद्धर्म प्रचारक (उर्दू) :

सद्धर्म प्रचारक पत्र के परिचय से पूर्व इसकी पूर्वपीठिका की चर्चा करना अधिक समीचीन होगा। "आर्य समाज जालन्धर में तीसरे वार्षिकोत्सव से पूर्व ही अपना प्रेस खोलकर समाचार-पत्र निकालने पर विचार किया गया। उन्हीं दिनों मेरे पास होशियारपुर के आर्यसमाजियों का पत्र आया जिसमें लिखा था कि–आर्यसमाज की ओर से समाचार पत्र चलाने के लिए कोई कम्पनी बनाई जावे तो एक हिस्सा वह भी लेंगे, इस पर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से २५/- (पच्चीस रुपये) के स्थिर किए।"[१]

प्रेस का नाम 'सद्धर्म प्रचारक' रखा गया। अखबार की नीति का अधिकार सम्पादकों को सौंपा गया, उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। १६ फरवरी सन् १८८६ से 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से आठ पृष्ठों का उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया था। प्रचारक के प्रथम अंक में संपादकीय देवराज जी ने लिखा था और मुख्य लेख मुंशीराम जी ने भविष्य नीति तथा उद्देश्य पर लिखे थे। जालन्धर से प्रकाशित होने वाले इस पत्र का आर्यसमाज की उर्दू पत्रकारिता में

१. कल्याण मार्ग का पथिक, लेखक–स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० १७३

महत्त्वपूर्ण स्थान था।

लाला मुंशीराम तथा देवराज कुछ दिन तक संयुक्त रूप से कार्य करते रहे परन्तु थोड़े दिन बाद पत्र का सम्पूर्ण कार्यभार और संपादन मुंशीराम पर ही आ गया। इस पत्र का प्रभाव आर्यसमाज पर व्यापक रूप से पड़ा। इसके लेख साप्तहिक सत्संगों में पढ़े जाते थे। यह पत्र आर्यसमाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक समझा जाता था। २८ फरवरी, १९०७ तक यह उर्दू साप्ताहिक के रूप में जालन्धर से निकलता रहा।

२. सद्धर्म प्रचारक (हिन्दी) :

एक दिन महात्मा मुंशीराम से किसी व्यक्ति ने कहा कि आप दयानन्द के शिष्य हो, आर्यसमाज का सेवक भी अपने को मानते हो फिर भी आप 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में क्यों निकालते हो ? महर्षि दयानन्द ने तो अपना सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी में लिखा है। लाला मुंशीराम ने तभी से इस पत्र को आर्य भाषा में निकालने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप १ मार्च, १९०७ ई० से यह पत्र हिन्दी में जालन्धर से साप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा।

बाद में 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस का सम्पूर्ण सामान ट्रेन के दो डिब्बों में भरकर जालन्धर से हरिद्वार भेज दिया गया। पहला डिब्बा ८ अप्रैल, १९०८ को भेजा गया। इस प्रथम डिब्बे को ११ अप्रैल को हरिद्वार पहुँच जाना था किन्तु रेलवे की भूल से यह डिब्बा हरिद्वार की बजाय किसी अन्य स्थान पर पहुँच गया। इस प्रकार यह डिब्बा काफी देरी से १९ अप्रैल, १९०८ को हरिद्वार पहुँच पाया। पहला डिब्बा आते ही सामान को काँगड़ी (पुण्य भूमि) पहुँचा दिया गया था। दूसरा डिब्बा भी आने पर उसका सामान पुण्यभूमि पहुँचा दिया गया। इस स्थान परिवर्तन के कारण आयी बाधा से 'सद्धर्म प्रचारक' के तीन अंक नहीं निकल सके। जब चौथा अंक प्रकाशित हुआ तो उसी में पिछले तीन अंकों को भी बिना पृष्ठ संख्या और लेखन सामग्री बढ़ाए ही समाहित कर दिया गया। कुछ दिन बाद गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार से इसके प्रकाशन की योजना बनी।

'सद्धर्म प्रचारक' (हिन्दी) का गुरुकुल काँगड़ी से प्रथम संस्करण (१, २, ३, ४) ६ मई १९०८ ई० को प्रकाशित हुआ। लगभग एक वर्ष तक हिन्दी संस्करण जालन्धर से इस पत्र का हिन्दी संस्करण १ मार्च, १९०७ ई० में निकाला था। 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस में व्यवस्थापक पं० अनन्तराम शर्मा थे। बाद में पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने भी इस पत्र का संपादन किया। सम्राट् जार्ज पंचम का राज्याभिषेक १९११ ई० में दिल्ली

में हुआ था। इस अवसर पर स्वामी श्रद्धानन्द जी को भी आमन्त्रित किया गया था। इस अवसर का लाभ उठाकर इन्द्र जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला। दैनिक 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रकाशन का अनुभव इन्द्र जी के शब्दों में– "मैं अभी विद्यार्थी ही था, स्नातक नहीं बना था। दैनिक के सम्पादन का कार्य मैंने अपने जिम्मे लिया। गुरुकुल का प्रेस तो काफी बड़ा था। गंगा के पार उस वनस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। फिर भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनों तक–शायद दस दिन तक–'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला गया। आर्थिक दृष्टि से तो वह पूरी तरह से घाटे का सौदा था–न स्थानीय बिक्री थी और न एजेन्सियों का प्रबन्ध। बस इतनी सन्तोष की बात समझो कि दैनिक संस्करण निकालने के कारण 'सद्धर्म प्रचारक' की ख्याति हो गयी, और मैं यह अनुभव करने लगा कि दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ।"[१]

पत्र का मुद्रण हरिद्वार से होता था परन्तु वह दिल्ली से प्रकाशित होकर राजधानी की गतिविधियों को प्रधानता देता रहा। इस समय मुंशीराम के बड़े पुत्र पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार 'सद्धर्म प्रचारक' के संपादक थे। सन् १९१२ में हरिद्वारस्थ प्रेस में आग लग गयी। फलतः मुद्रण कार्य दिल्ली में होने लगा और पत्र भी वहीं से निकलता रहा। ३० जनवरी, १९१५ को प्रेस और पत्र पुनः गुरुकुल में चले गये।

'सद्धर्म प्रचारक' में महात्मा मुंशीराम के भावों और विचारों का सम्पूर्ण प्रतिफलन होता था। उन दिनों आर्यसमाज के समक्ष उपस्थित कठिन प्रश्नों और समस्याओं का मार्गदर्शन 'प्रचारक' से ही मिलता था।

इस पत्र में सबसे ऊपर 'ओ३म्' छपता था। इसके बाद देवनागरी लिपि में इस पत्र का नाम तथा उससे भी नीचे रोमन लिपि में इसका नाम प्रकाशित होता था, नाम के नीचे दो मन्त्राँश रहा करते थे :

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

× × × ×

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

बाद में इन्द्र जी ने **'यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति'** को लिखना बन्द कर दिया था।

मन्त्रांशों के बाँयीं तरफ विक्रमी संवत्, मध्य में दयानन्दाब्द एवं सबसे अन्त में ईस्वी सन् लिखा होता था। जुलाई १९०८ से इस पत्र के ऊपरी भाग में एक बड़ी पताका बनने लगी। नाम 'सद्धर्म प्रचारक' के स्थान पर 'म' को द्वित्व कर 'सद्धर्म्म

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति–लेखक सत्यकाम विद्यालंकार, पृ० १७

प्रचारक' लिखा जाने लगा था। 'ओ३म्' एवं 'सद्धर्म प्रचारक' को पताका के भीतरी भाग में मुद्रित किया जाता था। मन्त्रांश के बायीं तरफ प्रवर्तक का नाम तथा दायीं तरफ संपादक का नाम होता था। बाद में इन्द्र जी ने पताका को बनाना बन्द कर दिया था।

श्रद्धा :

'श्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी से सन् १९२० में हुआ। इस पत्रिका के संपादक स्वामी श्रद्धानन्द थे। हिन्दी विषयक अनेक महत्वपूर्ण लेख इसमें प्रकाशित हुए। सहायक संपादक पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार थे। दो वर्ष तक चलकर यह पत्र बन्द हो गया।

यह पत्र प्रति शुक्रवार को प्रकाशित होता था। इसमें भी सबसे ऊपर 'ओ३म्' छपता था। तत्पश्चात् काफी बड़े आकार में इसका नाम 'श्रद्धा' प्रकाशित होता था। इस पत्र की बायीं तरफ यह मन्त्रांश और उसका अर्थ होता था–

'श्रद्धा प्रातर्हवामहे, श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।'

हम प्रातः काल श्रद्धा को बुलाते हैं, मध्याह्न काल भी श्रद्धा को बुलाते हैं।

इस पत्र के दायीं ओर यह मन्त्रांश और उसका अर्थ होता था –

'श्रद्धा सूर्यस्य विम्रचिछ्रद्धे श्रद्धापयेह्नः'

सूर्यास्त के समय भी श्रद्धा को बुलाते हैं। हे श्रद्धे ! यहाँ (इसी समय) हमको श्रद्धामय करो।

'सद्धर्म प्रचारक' के समान ही 'श्रद्धा' में संवत्, दयानन्दाब्द एवं सन् प्रकाशित होते थे।

सत्यवादी :

महात्मा मुंशीराम ने सन् १९०४ में 'सत्यवादी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। इसके प्रथम संपादक पं० पद्मसिंह शर्मा थे। पं० रुद्रदत्त शर्मा ने १९०८ से १९०९ ई० तक इसका सम्पादन किया।

दि गुरुकुल मैग्जीन [1] :

इस अंग्रेजी पत्रिका का प्रकाशन जनवरी १९०९ से प्रारम्भ हुआ। शिक्षा प्रणाली में महात्मा मुंशीराम का नवीन प्रयोग था। प्रथम गुरुकुल गुज़रांवाला (पंजाब) में स्थापित हुआ था। इसी गुरुकुल का यह मासिक मुखपत्र था। इसका सिद्धान्त

1. The Gurukul Magazine

वाक्य था–

'सर्वेषां दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।'[1]

पत्र का सम्पादन लाला रलाराम करते थे। सम्पादकीय कार्यालय गुजरांवाला में था जबकि प्रकाशकीय कार्यालय लाहौर का बंगाली टोला (अनारकली) था। इसमें विभिन्न प्रकार के लेखों के साथ-साथ गुरुकुल की प्रवृत्तियों के समाचार भी छपते थे।

वैदिक मैग्जीन एण्ड गुरुकुल समाचार[2] :

दि गुरुकुल मैग्जीन तीन वर्ष तक गुरुकुल गुजरांवाला से लाला रलाराम के सम्पादकत्व में निकलती थी। इसके बाद इसे सन् १६१० में 'वैदिक मैग्जीन एण्ड गुरुकुल समाचार' नाम से गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित किया जाने लगा। इस अंग्रेजी पत्र का मुद्रण 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस में होता था। इसके सम्पादक आचार्य रामदेव बने। रामदेव जी के सम्पादकत्व में यह पत्र आर्यसमाज के सर्वश्रेष्ठ पत्र के रूप में उभरा। इसमें आर्यसमाजी लेखकों के अतिरिक्त योगी अरविन्द, शरतचन्द्र दत्त, मोहिनी रंजन सेन, साधु टी.एल. वास्वानी, तथा डी. पी. सर्वाधिकारी आदि प्रमुख लेखक थे। सन् १६१६ ई० के आसपास यह पत्र लाहौर से मुद्रित होता था। सन् १६२६ में पत्र का प्रकाशकीय कार्यालय आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब मुख्यालय गुरुदत्त भवन लाहौर में था। यह पत्र लगभग चौथाई शताब्दी तक अनवरत रूप से निकलता रहा।

वीर अर्जुन :

३० अप्रैल, १६२३ ई० में दिल्ली से स्वामी श्रद्धानन्द ने 'अर्जुन' दैनिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। स्वामी जी के छोटे पुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति इसके सम्पादक थे। 'अर्जुन' राष्ट्रीय विचारधारा और आर्य विचारधारा का पोषक था। उग्र राष्ट्रीय विचारधारा के कारण १६३४ ई० में इस पत्र से ६०० रु० की जमानत माँगी गई तो पत्र के संचालकों ने इसे एक बार बन्द कर पुनः **'वीर अर्जुन'** के नाम से प्रकाशित किया। इस पत्र का साप्ताहिक संस्करण सन् १६२५ से प्रकाशित होने लगा था।

इस पत्र का प्रतिज्ञा-वाक्य था–**'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनं ।'** साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के आद्य सम्पादक पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार थे। इन्द्र जी के पुत्र जयन्त वाचस्पति एवं पं० लेखराम (अमर शहीद पं० लेखराम से अलग) ने भी इसका सम्पादन किया। सरकारी कोप-भाजन होने के कारण सन् १६२४ में यह

---

1. Of all charities verily the gift of knowledge divine is the noblest.
2. Vedic Magazine and Gurukul Samachar.

पत्र बन्द हो गया। सन् १९४५ में इसका पुनः प्रकाशन हुआ। पं० रामगोपाल विद्यालंकार एवं श्री क्षितीश वेदालंकार भी इसके संपादक थे।

बाद में यह पत्र पं० इन्द्र के हाथों से निकल गया और श्री श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स लिमिटेड नामक संस्था के तत्त्वावधान में साप्ताहिक पत्र के रूप में छपने लगा। इस संस्था पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचारधारा वाले लोगों का प्रभुत्व था। अतः यह पत्र आर्य विचारधारा से हटकर हिन्दुत्ववादी होता गया। जब इस संस्था ने इस पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया तो आर्यसमाज के वयोवृद्ध नेता महाशय कृष्ण ने दिल्ली से दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित किया। वीर अर्जुन के वर्तमान सम्पादक कृष्ण जी के छोटे पुत्र के नरेन्द्र हैं। इस पत्र का आर्यसमाज के प्रति पूर्ववत् लगाव है।

गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होने वाले पत्र एवं पत्रिकाएँ

सद्धर्म प्रचारक, श्रद्धा, सत्य वादी, दि गुरुकुल मैग्जीन एवं वैदिक मैग्जीन एण्ड गुरुकुल समाचार के अतिरिक्त अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाएँ गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित हुई। अब भी कई पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है–

वैदिक संदेश :

वैदिक संदेश नामक मासिक पत्र गुरुकुल काँगड़ी से सन् १९२१ में प्रकाशित हुआ। पं० विश्वनाथ विद्यालंकार एवं पं० देवराज सिद्धान्तालंकार इस पत्र के संयुक्त रूप से संपादक थे।

अलंकार तथा गुरुकुल समाचार :

गुरुकुल काँगड़ी से इस मासिक पत्र का प्रकाशन १ जून, १९२४ को हुआ। पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इस पत्र के सम्पादक बने। पत्र में गुरुकुल के छात्रों एवं स्नातकों की रचनाओं को ही प्रमुख स्थान मिलता था। सम्पादक-मण्डल में पं० सत्यकेतु विद्यालंकार, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार, पं० वागीश्वर विद्यालंकार भी रहे थे।

गुरुकुल (साप्ताहिक) :

गुरुकुल कांगड़ी से **'गुरुकुल'** नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन १० अप्रैल, १९३६ से प्रारम्भ हुआ। इस पत्र का उद्देश्य गुरुकुलीय शिक्षा का प्रचार एवं गुरुकुल काँगड़ी के स्नातकों की सेवा था। सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इस पत्र के सम्पादक थे।

गुरुकुल (मासिक) :

सम्पादक भारतभूषण वेदालंकार। डॉ० भवानीलाल भारतीय ने इस विषय में लिखा है कि 'एक अन्य विवरण के अनुसार 'गुरुकुल' पत्र मासिक था जिसके संपादक भारत भूषण वेदालंकार थे।'[१]

गुरुकुल पत्रिका :

गुरुकुल काँगड़ी की मासिक मुख पत्रिका गुरुकुल पत्रिका का प्रकाशन सितम्बर १९४८ में प्रारम्भ हुआ। इस पत्र का प्रकाशन गुरुकुल शिक्षा प्रचार, देववाणी संस्कृत एवं आर्य संस्कृति को लोकव्यापी बनाने की दृष्टि से हुआ। पत्रिका के प्रारम्भिक संपादक **रमेश वेदी** आयुर्वेदालंकार एवं पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति थे। इनके बाद पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड इसके सम्पादक बने। इसे आर्य समाज के संस्कृतज्ञ एवं लेखकों का पूर्ण सहयोग मिलता रहा। आर्य समाजेतर संस्कृत विद्वानों की रचनाएँ भी इसमें ससम्मान प्रकाशित की जाती थीं।

सत्रहवें वर्ष में पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने सम्पादक का कार्य सँभाला। इन्होंने विशेषांक निकालने की परम्परा डाली। इनके द्वारा सम्पादन कार्य सँभालने के बाद इसी वर्ष विष्णु अंक १८वें वर्ष का प्रथम अंक वेदांक, १९वें वर्ष में वेदविमेर्शांक, २०वें वर्ष में वेदांक, २१वें वर्ष में वेद दर्शनांक, २२वें वर्ष में संस्कृत भाषांक, २३वें वर्ष में पुनः वेदांक प्रकाशित हुए। २८वें वर्ष का प्रथम अंक नेहरू अंक तथा द्वितीय अंक श्रद्धानन्द के रूप में छपा। सन् १९७५ में किन्हीं कारणों से यह पत्र बन्द हो गया था किन्तु बाद में पुनः प्रकाशित होने लगा। पुनः प्रकाशन के बाद यह लगातार प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि यह मासिक पत्र है किन्तु अभी उसमें नियमितता (मासिक) नहीं हो पा रही है। इसमें विद्वानों के लेख एवं शोध लेख प्रकाशित होते हैं। डॉ० जयदेव वेदालंकार ने इसके कई अंकों का सम्पादन किया है। इस पत्रिका के समय-समय पर विशेषांक प्रकाशित होते रहते हैं। सन् १९९० में अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन (३५वाँ अधिवेशन) का विवरण गुरुकुल पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुआ है। प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री एवं डॉ० जयदेव वेदालंकार इस विशेषांक के संयुक्त रूप से संपादक हैं। अब डॉ० भारत भूषण को इस पत्रिका के सम्पादन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

THE VEDIC PATH :

यह मासिक पत्रिका है। पहले 'वैदिक मैग्जीन' नामक पत्रिका निकलती थी, उसी

१. आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार : डॉ० भवानी लाल भारतीय, पृ० ८९

के स्थान पर यह पत्रिका निकल रही है। 'द वैदिक पथ' के संपादक भूतपूर्व अंग्रेजी विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो० आर० एल० वार्ष्णेय थे। अब अंग्रेजी विभाग के डॉ० नारायण शर्मा इसके सम्पादक हैं। यह पत्रिका नियमित निकल रही है। इसके आवरण पृष्ठ पर नाम के अतिरिक्त निम्नवाक्य[1] अंकित रहते हैं–

'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः।'[2]

प्रह्लाद :

प्राच्य विद्याओं की त्रैमासिक पत्रिका प्रह्लाद का प्रकाशन सन् १६८५ से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से हो रहा है। यह उच्च कोटि की शोध पत्रिका है। इस पत्रिका के समय-समय पर विशेषांक प्रकाशित होते रहते हैं। अप्रैल, सन् १६८६ में इस पत्रिका का 'शिक्षांक' प्रकाशित हुआ। इसमें शिक्षा से सम्बन्धित अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों के लेख संकलित हैं। इसमें डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश', डॉ० प्रशान्त वेदालंकार, प्रो० ओमप्रकाश मिश्र आदि विद्वानों के शोधात्मक लेख हैं। जनवरी १६६० में आधुनिक हिन्दी के युगनिर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की १२५वीं जयन्ती पर **'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी स्मृति-अंक'** नामक विशेषांक प्रकाशित हुआ। अप्रैल, १६६० में स्वामी श्रद्धानन्द जी के पुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति की जन्मशती के अवसर पर **'पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जन्मशती श्रद्धांजलि अंक'** प्रकाशित किया गया। इसमें प्रो० शेर सिंह, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, डॉ० प्रशान्त वेदालंकार, डॉ० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', डॉ० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय' और डॉ० महावीर अग्रवाल आदि विद्वानों के गवेषणात्मक एवं प्रेरणादायक लेख हैं। मार्च, १६६१ में 'प्रह्लाद' पत्रिका का वेदमनीषी आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के अभिनन्दन अंक के रूप में **'आचार्य प्रियव्रत अभिनन्दन अंक'** निकला। इसमें आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के व्यक्तित्व एंव कृतित्व-विषयक डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश', डॉ० रामनाथ वेदालंकार, डॉ० प्रशान्त वेदालंकार आदि विद्वानों के विचार हैं। इन विशेषांकों के अतिरिक्त अन्य विशेषांक भी प्रकाशित किये गए।

शतपथ :

१६६१-६२ के सत्र से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में स्नातकोत्तर **'हिन्दी पत्रकारिता डिप्लोमा'** एक वर्षीय पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इस कक्षा में अध्ययन कर रहे छात्रों की यह प्रायोगिक बुलेटिन है। इस पर 'प्रशिक्षु पत्रकारों का प्रायोगिक बुलेटिन' लिखा रहता है। २ मार्च, १६६२ को इसका प्रथम अंक निकला। अब तक इसके ५ अंक निकल चुके हैं। इस बुलेटिन में सम्पादन का कार्य हिन्दी

---

1. [Foremerly The Vedic Magazine, Old organ of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, 1906-1935]
   Quartely Journal of Vedic, Indological and Scientific Research.
2. Let noble thoughts come to us from every side.

पत्रकारिता डिप्लोमा में अध्ययनरत छात्रों ने किया। यह बुलेटिन श्री कमलकान्त 'बुधकर' के दिशा निर्देशन में निकल रहा है। यह बुलेटिन ऑफसेट प्रेस से प्रकाशित हो रहा है।

आर्यभट्ट (हिन्दी) :

मासिक पत्र 'आर्यभट्ट' (विज्ञान पत्रिका) का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय से सन् १६८५ से हो रहा है। विज्ञान को सरल हिन्दी भाषा के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाना एवं पर्यावरण से सम्बन्धित जानकारी देना इस पत्र का उद्देश्य है। इस पत्र में पर्यावरण से सम्बन्धित विशेष लेख प्रकाशित किए जाते हैं तथा पर्यावरण से सम्बन्धित कविताओं को भी इस पत्र में समुचित स्थान प्राप्त होता है। इस पत्र के समय-समय पर विशेषांक प्रकाशित होते रहते हैं। जनवरी, १६८४ में **'पर्यावरण संरक्षण एवं समृद्धि'** विशेषांक प्रकाशित हुआ। इसमें विज्ञान एवं पर्यावरण से सम्बन्धित वरिष्ठ विद्वानों के जानकारीपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। यह पत्रिका नियमित निकल रही है।

आर्यभट्ट (अंग्रेजी) :

आर्यभट्ट (विज्ञान) का अंग्रेजी संस्करण भी लगभग हिन्दी संस्करण के समय से ही प्रकाशित हो रहा है। इस अंग्रेजी पत्र का भी उद्देश्य पर्यावरण से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करना है। इसके भी समय-समय पर विशेषांक प्रकाशित होते हैं। जनवरी, १६८४ में इस पत्र का विशेषांक **'एनवायरमेन्टल कान्जर्वेशन एण्ड एनरिचमेंट'**[1] के रूप में निकला। यह अंग्रेजी पत्रिका नियमित प्रकाशित हो रही है।

प्राकृतिक एंव भौतिकीय विज्ञान शोध पत्रिका[2] :

इस पत्रिका में हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में लेख प्रकाशित किये जाते हैं। यह शोध विज्ञान संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से प्रकाशित होती है। इसमें प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। यह पत्र सितम्बर १६८८ से प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रधान सम्पादक डॉ० एस० एल० सिंह हैं।

इन पत्रों के अतिरिक्त विशेष सम्मेलनों, बैठकों आदि के विवरण समय-समय पर गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होते रहते हैं। मार्च १६८६ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का तीसवाँ वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन का विवरण एक समालोचनात्मक शोधपत्र संकलन के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके निदेशक एवं सम्पादक डॉ० जयदेव वेदालंकार हैं।

---

1. Environmental Conservation & Enrichment.
2. Journal of Natural & Physical Sciences.

तृतीय अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय दृष्टि

समाचार-पत्रों का हमारे जीवन में उत्कृष्ट स्थान है। आजकल अनेक समाचार पत्र हिन्दी जगत् में प्रकाशित हो रहे हैं, जो अपनी उपादेयता को स्वयं प्रतिपादित करते हैं, परन्तु लोकहित में निर्भीकता-पूर्वक सत्य को उद्‌घाटित करने वाले पत्र बहुत कम हैं। समाचारपत्र के उद्देश्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए **महात्मा गांधी** ने कहा है–

> **"समाचार पत्र का एक उद्देश्य जनता की इच्छाओं-विचारों को समझना और उन्हें व्यक्त करना है, दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय कामनाओं को जाग्रत करना, तीसरा उद्देश्य सार्वजनिक दोषों को निर्भयतापूर्वक प्रकट करना है।"[1]**

स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय दृष्टि का मूल्यांकन करने से पूर्व पत्रकारिता एवं पत्रकार के बारे में जानना आवश्यक है। पत्रकारिता एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो हमारे जीवन की विविधताओं, नित्य न्यूनताओं और दैनिक घटनावलियों–प्रसंगावलियों को शीघ्र प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है। आज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व्यस्तता प्रधान जीवन में समाचार-पत्र हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चला है। जिस तरह शारीरिक भूख शान्त करने के लिये भोजन जरूरी है उसी तरह मानसिक तृप्ति के लिए पत्र-पत्रिकाएँ जीवन के लिए अनिवार्य बन चले हैं।

पत्रकारिता :

पत्रकारी ही धीरे-धीरे पत्रकारिता बन गया। पत्रकारिता वह **विद्या** है, जिसमें पत्रकारों के कार्यों, कर्त्तव्यों और उद्देश्य का विवेचन किया जाता है। पत्रकारिता का सामान्य अर्थ है–

"पत्रकार का काम या व्यवसाय।"[2]

दूसरे रूप में हम कह सकते हैं कि "पत्रकारिता स्पष्ट रूप से तीन रूपों में हमारे सामने आती है– १. पत्रकार की अवस्था या भाव, २. पत्रकार का काम, तथा ३. वह विद्या जिसमें पत्रकारों के कार्यों, कर्त्तव्यों उद्देश्यों आदि का विवेचन होता है।"[3]

---

१. महात्मा गांधी सन्दर्भांकित संवाद और संवाददाता, पृ० १

२. हिन्दी शब्द सागर : छठा भाग, संपा० श्यामसुन्दर दास, पृ० २७६८

३. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड) प्रधान संपा० रामचंद्र वर्मा, पृ० ३८०

डॉ० बद्रीनाथ कपूर ने वैज्ञानिक परिभाषा कोश में कहा है कि– "पत्रकारिता पत्र-पत्रिकाओं के लिए समाचार, लेख आदि एकत्रित तथा सम्पादित करने, प्रकाशन-आदेश आदि देने का कार्य है।"[१]

पत्रकारिता की परिभाषा **डॉ० अर्जुन तिवारी ने** इस प्रकार की है–"समय और समाज के सन्दर्भ में सजग रहकर नागरिकों में दायित्व बोध कराने की कला को पत्रकारिता कहते हैं। गीता में जगह-जगह 'शुभ-दृष्टि' का प्रयोग है। यह शुभदृष्टि ही पत्रकारिता है। जिसमें गुणों को परखना तथा मंगलकारी तत्त्वों को प्रकाश में लाना सम्मिलित है। महात्मा गांधी तो इसमें 'समदृष्टि' को महत्त्व देते थे। समाजहित में सम्यक् प्रकाशन को पत्रकारिता कहा जा सकता है। असत्य, अशिव और असुन्दर पर **'सत्यं शिवं सुन्दरं'** की शंखध्वनि ही पत्रकारिता है।[२]

इस प्रकार पत्रकारिता सामान्य अर्थ में विश्व के क्षितिज पर घटित होने वाली घटनाओं का तथ्यात्मक, विविधात्मक और यथार्थपरक प्रस्तुतिकरण है। पत्रकारिता व्यक्ति, समाज, सामाजिक सन्दर्भों और बहुविध परिवेश की कहानी है। जिस प्रकार कहानी किसी मानवीय संवेग, किसी क्षण विशेष की पकड़ और घटना प्रसंगों की कलात्मक-कल्पना-प्रवण प्रस्तुति है; उसी प्रकार पत्रकारिता की प्रस्तुति तो है परन्तु कहानी साहित्य की अपेक्षा कम कलात्मक है। कहानी साहित्य में कल्पना प्रमुख है तो पत्रकारिता में यथार्थ् की सत्य प्रतिबोध स्थिति है। पत्रकारिता में कल्पना प्रयोग-शैली तक ही सीमित है।

पत्रकार :

पत्रकारिता से सम्बन्धित ये सभी व्यक्ति (संवाददाता सम्पादक आदि) जो समाचारों का संग्रह, संकलन और सम्पादन करते हैं जो समाचार या फीचर तैयार करते हैं, समीक्षा करते हैं, पत्र-पत्रिका का सम्पादन करते हैं और उन्हें प्रकाशित करते हैं, पत्रकार कहलाते हैं।

चैम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार–समाचार के लेखन, संकलन, सम्पादन और पत्र-पत्रिकाओं की अन्य सामग्रियों को प्रकाशनार्थ तैयार करने वाला ही पत्रकार है।

जनता की जरूरतों के अनुसार उसकी आशा, आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने का दायित्व पत्रकार पर ही होता है, अतः पत्रकार में निष्ठा, कर्त्तव्य परायणता, निर्भीकता, जागरुकता और साहस का होना अनिवार्य है। अन्यथा वह इस पुनीत और

---

१. वैज्ञानिक परिभाषा कोष : संपा० डॉ० बद्रीनाथ कपूर पृ० ११७

२. आधुनिक पत्रकारिता, डॉ० अर्जुन तिवारी, पृ० ६

दायित्वपूर्ण कार्य का निर्वाह करने में असफल रहेगा। एक सच्चे पत्रकार का चरित्र कैसा होना चाहिए उसे **श्री प्रकाशचन्द्र भुवालपुरी** ने विभिन्न उपमाओं से इस प्रकार परिभाषित किया है–

"वह साहित्यकार की तरह मधुव्रती बनकर जीवन के बिखरे हुए सत्य का मात्र संचयन नहीं करता, वरन् उसे देवर्षि नारद-सा भ्रमणशील, संजय-सा दूरदृष्टि-सम्पन्न, अर्जुन-सा लक्ष्यनिष्ठ, एकलव्य-सा अध्यवसायी, दधीचि-सा त्यागी, धर्मराज-सा सत्यव्रती, भीष्म-सा अडिग, गणेश-सा प्रतिभासम्पन्न, कृष्ण-सा ज्ञानी एवं कर्मयोगी, राम-सा मर्यादावादी, कृष्णद्वैपायन-सा प्रगतिशील और भगवान शिव-सा लोकमंगल के लिए विषपायी होना पड़ता है। ये सभी गुण किसी एक में समवेत होना उसे सम्मानित पत्रकार बनाते हैं और ऐसा पत्रकार ही अपनी पत्रकारिता को, अपने दायित्वबोध को निबाहते हुए सामने से आकर सामाजिक सम्मान और समादर का सच्चा अधिकारी बनता है।"[१]

विशुद्ध पत्रकारिता के लिए पत्रकारों का उन्नत चरित्र नितान्त आवश्यक है। हमें अपने पत्रकारों को ऐसी स्थिति में रखना चाहिए कि उनका चरित्र अक्षुण बना रहे। पत्रकार को किसी भी प्रलोभन में न पड़कर सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के मणि से विचलित नहीं होना चाहिए।

टी० एच० स्कॉट के अनुसार–"पत्रकार वह व्यक्ति है जो थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर प्रकाशित अपनी रचनाओं से जनमत को एक निश्चित दिशा में प्रभावित करना चाहता है।"[२]

पत्रकार की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए **पं० कमलापति त्रिपाठी** ने लिखा है–"सार और तत्व की बातों को क्षणमात्र में पकड़ लेना, मानसिक सतर्कता, समयानुसार अपने को तदनुकूल बना लेने की क्षमता, सूक्ष्म विवेचनात्मक बुद्धि और दृष्टि, संवाद को सूँघकर ढूँढ निकालने की योग्यता आदि ऐसी बातें हैं जो उसकी सफलता के लिए आवश्यक हैं। फिर सहनशीलता और साहस, सतर्कता और मौलिकता, कल्पना और पारदर्शी दृष्टि, निर्लिप्तता और निर्भीकता सबसे बढ़कर जगत् और जीवन के प्रति हृदय में संवेदना तथा उदारभावना उसके आवश्यक गुण हैं जिनका विश्वास किये बिना पत्रकारों में आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना संभव नहीं है।"[३]

---

१. आधुनिक पत्रकारिता, पृ० ६७

२. आधुनिक पत्रकारिता, पृ० ६६

३. तदेव

डॉ० अर्जुन तिवारी ने पत्रकार के दस धर्मों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है–

१. अपने पत्र के सुनाम पर गर्व कीजिए। जोश के साथ अपना उत्साह दिखलाइये, पर व्यर्थ का घमण्ड मत कीजिए।
२. पत्रकारिता में जड़ता मृत्युवत् और एक ही रट मृत्यु है।
३. अवसर न खोइये, बहुज्ञानी बनिये। नवीनता प्रदर्शन से मत चूकिये।
४. व्यक्ति से बड़ा समाज है। सरकार से बड़ा देश, मनुष्य मरणशील है, संस्था और सिद्धान्त अमर हैं।
५. शत्रु और मित्र दोनों बनाइये। मित्र ऐसे हों जो आप से आदर प्राप्त करें और शत्रु ऐसे हों, जिनसे आप द्वेष न कर सकें।
६. आर्थिक और सहित्यिक क्षेत्रों में आक्रमण कम से कम करें। समाज में शान्ति से रहना हो तो अपनी रक्षा करने के लिए हमेशा तैयार रहिये।
७. तलवार अैर पैसा ये दोनों कलम के दुश्मन हैं। आवश्यकता पड़े तो सम्मान-रक्षा के लिए जीवन और धन की भी बलि दीजिये।
८. दृढ़ रहिए पर हठी नहीं। परिवर्तनीय बनिये पर कमजोर नहीं। उदार बनिये पर हाथ बिल्कुल ढ़ीला मत छोड़िये।
६. स्पष्टवादी सगर्व सचेष्ट और स्फूर्तिमान रहिए, तभी आपका सम्मान होगा। कमजोरी परलोक के लिए अच्छी है, नहीं तो नपुंसकता है।
१०. जो कुछ छपा हो, सबकी जिम्मेदारी लीजिए। व्यर्थ दोषारोपण पाप है। प्रतिष्ठा की हानि करने वाली चीज न छापिए। घूंस लेना पाप है। साथी पत्रकार की जगह लेने की इच्छा रखना, कम वेतन पर काम स्वीकार कर साथी पत्रकार को निकालना भी पाप है। रहस्य जतन से रखिए। पत्र स्वातंत्र्य या पत्र की शक्ति का व्यक्तिगत उपयोग कभी न कीजिए।''

चुनौती झेलना पत्रकार का आनन्द है।वह किसी दुर्घटना या अपराध या युद्ध के समाचार की तह तक जाना चाहता है। अतः पत्रकार को लेखनी का धनी होने के साथ सहनशील, धैर्यशील, गोपनीय, परिश्रमशील, चतुर, वाक्पटु तथा दूरदर्शी आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।

पत्रकारिता एक साधन है। इसके लिए एकाग्रता, कर्त्तव्यनिष्ठा, परिश्रम, ईमानदारी, त्याग, नियमितता आदि गुणों का होना आवश्यक है।

---

१. आधुनिक पत्रकारिता, डॉ० अर्जुन तिवारी, पृ० ६७

इस प्रकार पत्रकार यदि किसी को बनना है तो वह इस व्यवसाय में सोच समझ कर कदम रखे।

सम्पादक :

पूरा करने वाला, प्रस्तुत करने वाला वह व्यक्ति जो दूसरे की रचना शुद्ध करके प्रकाशन के योग्य बनाता है, या सामयिक, दैनिक आदि पत्र का सम्पादन-संचालन करता है। समाचार-पत्र या पत्रिका संचालन करने वाला व्यक्ति जो पत्र की नीति के अनुसार अंक की योजना बनाता है, भाषा व शैली का निरीक्षण करता है, विशेष लेखों का सम्पादन करता है। टिप्पणियाँ तैयार करता है, कर्मचारियों को निर्देश देता है और प्रसार संख्या पर विशेष ध्यान देता है, **'सम्पादक'** कहलाता है। प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन ऑफ एक्ट में सम्पादक की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"समाचारपत्रों में जो कुछ छपता है उसका निश्चय करने वाला व्यक्ति सम्पादक कहलाता है।"[१]

इस प्रकार सम्पादक ही पत्र में छपने वाली सामग्री के लिए उत्तरदायी होता है।

पत्रकारिता की आवश्यकता :

समाचार-पत्र की आज के युग में बड़ी भारी आवश्यकता है। समाचार वर्तमान की सूचना देता हुआ, भविष्य की संभावना प्रकट करता हुआ 'मौसम पक्षी' होता है। आज सामाजिक चेतना युग-मानव समाचार-पत्र के थोड़े विलम्ब पर आने की स्थिति से व्याकुल हो उठता है, क्योंकि **'टी-टेबुल'** का मुख्य विषय ही समाचार-पत्र है। जनतान्त्रिक देशों में समाचार-पत्रों को **'लोकसभा का स्थायी अधिवेशन'** कहा गया है।

जैफर्सन ने तो समाचार-पत्र जगत् को स्वतंत्र समाज में यह कह कर सर्वोच्च स्थान दिया है कि–"यदि उनको एक समाचार-विहीन शासन व्यवस्था और समाचार-विहीन समाचार-पत्र वाले समाज में से चुनने को कहा जाय तो वह निःसन्देह समाचार-पत्र वाली व्यवस्था का अंगीकार करेगा।"[२]

लोकतंत्र के चारों स्तम्भों की अवधारणा करते हुए हिन्दी दैनिक समाचार-पत्र जनसत्ता के सम्पादक **श्री प्रभाष जोशी** ने कहा है कि "न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका और प्रेस में यदि मैं **"चौथा खम्भा"** हूँ तो पत्रकार होने के नाते मेरा अधिकार और कर्त्तव्य है कि इन तीनों खम्भों को मैं **'जज'** करूँ।"[३]

---

१. पत्रकारिता के सिद्धान्त, पृ० २२५

२. हिन्दी पत्रकारिता : विकास और विविध आयाम, पृ० १०

३. दिनमान १०–१६, मार्च, १९८५, पृ० ३

पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने पत्रकारिता को "वर्तमान युग का सबसे प्रभावशाली आविष्कार कहा है।"[१]

समाचार समाज के सामने एक समस्या के कई विकल्प प्रस्तुत करते हैं। इससे समाज को निर्णय करने और अपना रास्ता चुनने में आसानी होती है। इन सब कारणों से ही राजेन्द्र ने समाचारपत्र को 'श्रीजन साधारण' की संज्ञा दी है। दैनिक समाचार-पत्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समूचे विश्व का दर्पण मनुष्य के हाथों में सौंप देता है। सम्प्रेषण के माध्यमों के विकास ने पत्रकारिता को इतना व्यापक बना दिया है कि आज हम घटनाओं को घटते हुए देख व सुन सकते हैं। दूरदर्शन से हम सैकड़ों किलोमीटर की दूर की चीजों को आमने-सामने देख सकते हैं। इसी के माध्यम से हम बच्चे, युवा, बूढ़े, पढ़े-अनपढ़ सभी को घर बैठे-बैठे ही तरह-तरह की शिक्षाप्रद जानकारी दे सकते हैं।

आज के युग में पिछड़ी हुई जातियों के उत्थान में समाचार-पत्र ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। समाचार-पत्र का उद्देश्य आज जनता की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करना तथा सामाजिक क्रान्ति की दिशा में चेतना जाग्रत करना है। समाज में व्याप्त अन्धविश्वास के विरुद्ध समाचार-पत्र अपना युद्ध छेड़ सकता है। जाति-पांति, छुआ-छूत, बालविवाह, बेमेलविवाह के विरुद्ध व विधवा-विवाह तथा सामाजिक विकास के पक्ष में समाचार-पत्र लेखों द्वारा जन मानस को जाग्रत कर सकते हैं। लेखनी तलवार से भी अधिक शक्तिशाली होती है। एक समाचार जनता में बवंडर उत्पन्न कर सकता है तो दूसरी ओर वह समाज में शान्ति कायम रखने में सहायक हो सकता है। समाचार-पत्र ज्ञान के प्रसारक, मनोरंजन के दाता जन-शिक्षण के पुरोधा, दैनन्दिन घटनाओं के प्रस्तोता धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों के व्याख्याता और व्यापक भूमिका पर व्यक्ति को विश्व-मानस से प्रतिबद्ध करने वाला अनिवार्य साधन है। इसकी यह साधनता यह माध्यमत्व और इस ज्ञानोन्मेष्कारी शक्ति में ही पत्रकारिता का महत्त्व निहित है।

सम्पादकीय दृष्टिकोण :

स्वामी जी के सम्पादकीय दृष्टिकोण को जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सम्पादकीय कहते किसे हैं। सम्पादकीय समाचार-पत्र या पत्रिका के मुख्य लेख को कहते हैं। सम्पादकीय-सम्पादकीय-स्तम्भ में नियमित रूप से लिखा जाने वाला ५०० से १००० शब्द का लेख है। यह सम्पादक का स्वयं का लेख होता हैं, जो

---

१. पत्रकारिता के अनुभव पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ८२

पत्र-पत्रिका की नीति के अनुसार होता है। समाचार-पत्र का सम्पादकीय सामयिक घटनाओं या विशेष समाचार से सम्बन्धित होता है, जिसमें समाचार से सम्बन्धित तथ्य, समाचार की पृष्ठभूमि, प्रभाव के अतिरिक्त समाचार-पत्र की नीति और अपने व्यक्तित्व के अनुसार सुझाव, आलोचना, मार्गदर्शन, प्रशंसा, चेतावनी और मनोरंजन आदि पर बल देना है। पत्रिका के सम्पादकीय में सामयिक चर्चाओं के अलावा अधिकतर पत्रिका के उस अंक की सामग्री के विषय में पाठकों से चर्चा होती है या फिर पत्रिका की योजना और समस्याओं के सम्बन्ध में चर्चा होती है।

लावेल स्पेंसर का विचार है कि–"सम्पादकीय संक्षेप में, तथ्यों और विचारों का ऐसा तर्कसंगत और सुरुचिपूर्ण प्रस्तुतिकरण है, जिसका उद्देश्य मनोरंजन, विचारों को प्रभावित करना, किसी महत्त्वपूर्ण समाचार का ऐसा भाष्य प्रस्तुत करना जिससे सामान्य पाठक उसका महत्त्व समझ सके।"[१]

इस प्रकार सम्पादकीय बहुत सोच-समझ कर लोक-मंगल की कामना से लिखा गया लेख है जिसे आम आदमी समझ सके। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने समाज के हित को ध्यान में रखते हुए शिक्षा समाज एवं राजनीति पर तो अपने विचार प्रस्तुत किये ही साथ में सिद्धान्त सम्बन्धी अपने विचारों को भी जन सामान्य के सामने रखा।

आधुनिक शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण :

स्वामी जी ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में जहाँ ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक बताया वहाँ पर वे साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा के अध्ययन की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। पाश्चात्य शिक्षा से हम उन विषयों का शिक्षण ग्रहण करते हैं जो विषय यूरोप आदि पश्चिम देशों से भारत में आए हैं। इसमें अंग्रेजी, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय प्रमुख हैं। महर्षि दयानन्द ने इन विषयों को पाश्चात्य देशों की देन नहीं माना है, परन्तु उनका मानना था कि ये सभी विषय हमारे यहाँ पहले से भी विद्यमान हैं। वे समस्त विषयों का मूलस्रोत भारतीय ग्रन्थों में ही मानने के बावजूद भी कहते हैं कि यूरोप के लोगों में जो अच्छे गुण हैं उनको हमें ग्रहण कर लेना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी इन विषयों का मूल भारतीय ग्रन्थों में ही माना है, लेकिन अधिकांश विद्वानों का मानना है कि ये विषय यूरोप से ही भारत में आए हैं। अतः हम इसी परिप्रेक्ष्य में उक्त विषयों पर चर्चा करेंगे।

स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी में परम्परागत आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन के साथ पाश्चात्य विषयों के अध्यापन की भी समुचित व्यवस्थाकी थी। अंग्रेजी, विज्ञान,

---

१. पत्रकारिता-सन्दर्भ ज्ञानकोश, पृ० ४३

इतिहास, भूगोल आदि अध्ययन भी कराया जाता था। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में बालकों को देवनागरी अक्षरों के साथ अन्य भाषा के अक्षरों का बोध कराने पर भी बल दिया है–

"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावे, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"[१]

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी अंग्रेजी के अध्ययन को उचित ठहराया। परन्तु प्रारम्भिक कक्षाओं से अंग्रेजी के शुरू करने का विरोध करते थे। उनका मानना था कि एक प्राचीन भाषा को अच्छी तरह पढ़ लेने से, उसका व्याकरण समुचित रूप से जान लेने पर अन्य आधुनिक भाषाओं का पढ़ लेना बहुत सरल हो जाता है। संस्कृत भाषा व उसके व्याकरण की उत्तमता उन्होंने इन शब्दों में दर्शायी–

"संस्कृत व्याकरण से बढ़ कर अन्य किसी भाषा का व्याकरण नहीं है और यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है कि यदि एक प्राचीन भाषा का पूर्ण व्याकरण पढ़ लिया जाये तो अन्य नवीन भाषाओं का पढ़ना बहुत सुगम हो जाता है।"[२]

इसीलिए गुरुकुल कांगड़ी में प्रारम्भिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी नहीं रखी गयी है।

अन्य भाषाओं का ज्ञान किस प्रकार लाभकारी होता है इस विषय में स्वामी जी लिखते हैं कि दुर्योधन ने पाण्डवों की हत्या करने के लिए लाख का घर बनवाया था। दुर्योधन के इस षड्यन्त्र की जानकारी युधिष्ठिर को बखेरी भाषा में दी थी। इसी कारण पाण्डव लाक्षागृह से सुरक्षित निकल गये थे–

"लाख के घर का स्पष्ट वृत्तान्त और उसका भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बखेरी देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा युधिष्ठिर को आती थी। लोकोक्ति है कि इसलिए पाण्डव लाख के गृह में आग लगाई जाने पर भी इस भीषण दुःख से बच गये थे। देखो ! विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि को बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान था। वह अरबी भाषा भी बोल सकते थे।"[३]

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी अनेक भाषाओं के ज्ञान के पक्ष में थे।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० २१

२. सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १६०८, पृ० ६

३. वही

स्वामी दयानन्द ने विज्ञान का आदिस्रोत वेद को माना है। वे भौतिक उन्नति का साधन भी विज्ञान को ही मानते थे। उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विज्ञान-विषयक नौ विमानादि विषय, तार-विद्या विषय, गणित-विद्या विषय, पृथिव्यादि लोक भ्रमण विषय, विज्ञान काण्ड आदि अध्याय लिखे हैं। दयानन्द सरस्वती ने अपने शिष्यों को विज्ञान के अध्यापन हेतु जर्मनी के एक शिक्षक डॉ० जी० वाइज से पत्र-व्यवहार किया था। इसका उदाहरण देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं–

''डॉ० जी० वाइज जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षक थे जिनके साथ संवत् १६३६ में ऋषि दयानन्द ने अपने कुछ शिष्यों को पदार्थ तथा शिल्प शिक्षा ग्रहण करने के लिए जर्मनी भेजने के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार किया था।''[१]

यद्यपि महर्षि अपने शिष्यों को विज्ञान शिक्षा हेतु जर्मनी भेजना चाहते थे किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु हो जाने से उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। उन्होंने पदार्थ विद्या और शिल्प विद्या सीखने पर बहुत बल दिया–

''पदार्थ विज्ञान की प्राप्ति पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है, क्योंकि उसी की प्राप्ति को वह उन्नति की पहली सीढ़ी समझते थे।''[२]

स्वामी जी का यह मन्तव्य था कि विज्ञान पर सभी को अधिक ध्यान देना चाहिए। वे गुरुकुल में भी विज्ञान की तरफ अधिक ध्यान देने के पक्ष में थे–

''यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके।''[३]

इस प्रकार स्वामी जी अंग्रेजी, विज्ञान, इतिहास तथा भूगोल आदि आधुनिक विषयों की शिक्षा के भी हिमायती थे। वे आर्ष ग्रन्थों के साथ-साथ इनका अध्ययन भी आवश्यक समझते थे।

नारी-शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण :

मध्यकाल में स्त्रियाँ शिक्षा से बिल्कुल वंचित हो गयी थीं। १६वीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने पुनः स्त्री-शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने वैदिक काल का उदाहरण देते हुए बताया कि उस समय स्त्रियों को हर प्रकार की स्वतंत्रता थी। वे भी पुरुषों के समान शिक्षा-ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ करती थीं। जब तीन उत्तम शिक्षक माता-पिता एवं आचार्य हों तभी मनुष्य ज्ञानवान् बन सकता है।[४] इन तीनों को शिक्षक

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त, १६०८, पृ० ५
२. वही
३. सद्धर्म प्रचारक, ५ अगस्त, १६०८, पृ० ४
४. मातृमान्, पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद। शतपथ ब्राह्मण ४/१५/८/२

माना गया है, तथापि माता का स्थान इनमें सर्वोपरि होता है–

'जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता। इसलिए (मातृमान्) अर्थात् **प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्**। धन्य है वह माता कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो सुशीलता का उपदेश करे।''[१]

इस प्रकार माता का गुरुत्व तो निर्विवाद सिद्ध है। जब तक भारतवर्ष में स्त्रियाँ शिक्षित रहीं यह राष्ट्र सुसम्पन्न था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने स्त्रियों के अशिक्षित होने को ही भारत के पतन का कारण माना है–

''एक समय था जब हमारे देश में समस्त स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हुआ करती थीं और यही कारण था कि यह देश उस समय उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था। समस्त जातियाँ तथा सब देश वाले इसको अपना गुरु मानते थे। आजकल तो वर्तमान समय में इस देश का अधःपतन हुआ है। उसका एक मात्र कारण स्त्रियों का न पढ़ना ही है।''[२]

अब देश को यदि वही स्थान दिलाना चाहते हो जो पहले विश्व गुरु का था, तो स्त्रियों को शिक्षित करना होगा।

''जब केवल इनकी ही अधोगति से देश इतना गिर गया है कि इसका पुनः उच्च शिखर पर पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। जब तक भारत ललनाएँ पुनः पठन-पाठन की ओर ध्यान नहीं देवेंगी तब तक भारत का उद्धार होना असम्भव है।''[३]

सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव माँ का ही पड़ता है। बच्चों को उठना, बैठना, खड़ा होना, चलना, बोलना, खाना-पीना आदि बातें माँ ही सिखाती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार माता पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चों को देवनागरी का अभ्यास करावे। साथ ही कौन वर्ण किस स्थान से बोला जाता है, उस वर्ण का प्रयत्न क्या है, आदि बातें माता बच्चों को सिखा दे, जिससे वे उच्चारण में त्रुटियाँ न करें। यह तभी सम्भव है जब माता शिक्षिता हो–

''इस कारण स्त्री-शिक्षा प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। स्त्री-सुधार से जो

---

१. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० २०

२. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर, १६०६, पृ० ६

३ सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर १६०६, पृ० ११

देश का, समाज का, जाति का प्रत्युपकार होता है उतना पुरुष मात्र से होना कठिन है, कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव है, क्योंकि जन्म से लेकर माता बालक को उस समय तक शिक्षा देती है जब तक वह बड़ा होकर बाहर गुरुकुलादि पवित्र स्थानों में जाकर विद्या ग्रहण न कर सके।"[१]

यदि माँ सुशील एवं सुशिक्षित होगी तो निश्चय ही उसकी सन्तान पर भी उसके सद्गुणों का ही प्रभाव पड़ेगा और यदि माँ अशिक्षित है तो वह अपनी सन्तान को प्रारम्भिक शिक्षा नहीं दे सकती। व्यवहार से अनभिज्ञ एवं अशिक्षित स्त्री का सन्तान पर गलत प्रभाव ही पड़ता है–

"यदि माता सुशीला तथा पढ़ी-लिखी हो तो बालक पर सुशीलता तथा परिश्रम के साथ विद्याग्रहण करने का अच्छा प्रभाव और माता मूर्ख वा इहलौकिक वा पारलौकिक सद्व्यवहारों में सर्वथा अनभिज्ञ वा अशिक्षित होवे तो बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।"[२]

यदि जो स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकतीं, उन्हें भी कम से कम साहित्य, ललित कला, विज्ञान आदि विषयों की सामान्य जानकारी तो अवश्य कर लेनी चाहिए। इनको सीखे बिना परिवार की देख-रेख, हिसाब-किताब एवं सेवा-सुश्रूषा आदि समुचित रूप से नहीं हो सकती।

"कम से कम कन्याएँ इतना अवश्य पढ़ें कि साहित्य, ललित कला, इतिहास और भूगोल, पदार्थ विज्ञान, सामान्य कार्य चलाने योग्य अंकशास्त्र, रम्भन, आलिम्पन प्रभृति प्रयोजनीय सफल शिक्षा जिससे उनको भविष्यत् जीवन यात्रा के पथ में सहायता कर सके।"[३]

स्वामी जी शिक्षा प्राप्ति के लिए लड़का और लड़की में कोई भेदभाव नहीं करते। जिस प्रकार माता-पिता अपने लड़कों की शिक्षा की तरफ ध्यान देते हैं, वैसे ही वे अपनी पुत्रियों की शिक्षा हेतु भी समुचित व्यवस्था अवश्य करें। स्वामी जी स्त्रियों की शिक्षा के लिए लोगों का आह्वान करते हुए लिखते हैं–

"हे मेरे प्यारे! भारतवासियो! उठो! चेतो! जागो! आंखें खोलो, बहुत सो चुके, निद्रा सुख को त्याग कर देखो कि इनके पढ़ाने में क्या-क्या लाभ है और समझ कर अपनी-अपनी कन्याओं तथा स्त्रियों को पढ़ाओ एवं पढ़ने की आज्ञा प्रदान करो जिससे आपका डूबा हुआ भारतवर्ष फिर उसी उन्नति के शिखर पर पहुँच जावे।"[४]

१. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर, १६०६, पृ० ६
२. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर, १६०६, पृ० १०
३. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर, १६०६, पृ० ११
४. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर, १६०६, पृ० १०

शिक्षा की आवश्यकता सम्बन्धी दृष्टिकोण :

मन में विचार उठता है कि बच्चे और बच्चियों को शिक्षित क्यों किया जाय ? क्या शिक्षा के बिना वे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते ? शिक्षा के बिना बच्चों में क्या अधूरापन रह जाता है ? क्या शिक्षा ग्रहण किए बिना वे अपना पेट नहीं पाल सकते ? क्या बिना शिक्षा के वे अपने अन्य सभी कार्य नहीं कर सकते ? इनमें कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान बिना शिक्षा के प्राप्त किए भी हो सकता है। परन्तु कुछ कार्य ऐसे भी हैं इन प्रश्नों में जिनका समाधान शिक्षा प्राप्त करके ही होता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी का मन्तव्य है कि किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए उसमें रहने वाले मनुष्यों का शिक्षित होना अति आवश्यक है–

"शिक्षा से रहित राष्ट्र उन्नति कर सके–यह अश्रुतपूर्व तथा असम्भव बात है। उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का बहुत बड़ा अंश शिक्षित होवे।"[१]

किसी राष्ट्र का सामाजिक या राजनीतिक उत्थान तभी सम्भव है जब राष्ट्र के लोग सुशिक्षित हों। राजनीति से सम्बन्धित लोग लाभ तो उठाना चाहते हैं किन्तु राष्ट्र के लोगों को शिक्षित करने का कोई प्रयत्न नहीं करते। राष्ट्र के लोग शिक्षित हों तो कार्य ठीक से होगा, अशिक्षित लोगों की सहायता से किया गया कार्य रेत पर किला खड़ा करने का समान होगा–

"सर्वसाधारण को शिक्षित किये बिना राजनैतिक अधिकारों का पा लेना वैसा ही है जैसे रेतीले मैदान पर राजभवन खड़ा कर लेना। सर्वसाधारण को शिक्षित किये बिना पहले तो किसी प्रकार की राजनैतिक या सामाजिक उन्नति को पाना ही असंभव है और यदि किसी तरह पा भी ली जाय तो उसका स्थिर रखना तो सर्वथा असंभव है।"[२]

शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान तक सीमित नहीं है बल्कि उसे जीवन में उतारना भी है। शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत है। सामाजिक समानता, सामाजिक विकास, सौहार्द्र, राष्ट्रोन्नति, ज्ञान-विज्ञान का अर्जन, चारित्रिक उत्थान, धार्मिक जीवन, समाज सेवा की भावना आदि अनेक गुणों को देने वाली शिक्षा ही है। शिक्षा वह रत्न है जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य को आत्मबोध और स्वकर्त्तव्यबोध होता है और जिसके प्रभाव से वह समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में सहायता करने को तत्पर होता है।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २७ सितम्बर, १६११, पृ० ५

२. वही

शिक्षा क्यों दी जाय ? इस प्रश्न के समाधान के बाद दूसरा प्रश्न पैदा होता है कि शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? बहुत से व्यक्ति पढ़ना या पढ़ाना नहीं चाहते उनका क्या उपाय है ? स्वामी जी शिक्षा में राजनैतिक व सामाजिक बल का प्रयोग करना उचित मानते थे। यदि कोई व्यक्ति जाना या भेजना नहीं चाहता तो उसे जबर्दस्ती विद्यालय में भेजना चाहिए। आठ वर्ष के बाद सभी बालक-बालिकाओं को अध्ययन हेतु भेज दिया जावे। इसमें सामाजिक नियम ही नहीं अपितु शासकीय नियम भी होना चाहिए। राजनीतिक नियम होने से लोगों को भय बना रहता है कि यदि हमने बच्चों को अध्ययन हेतु विद्यालयों में नहीं भेजा तो दण्डित किए जायेंगे। राज्य की ओर से बना हुआ नियम ही अधिक सफल होता है–

"वह जबर्दस्ती सामाजिक बल द्वारा की जाय या राजनैतिक बल द्वारा ? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। सभ्य देशों में राजनैतिक बल ही शिक्षा का प्रचारक होता आया है। इसलिए हमारे देश में भी यही उपाय सफल हो सकता है।"[1]

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में शिक्षा की आवश्यकता को जानते हुए राजनैतिक एवं सामाजिक बल के द्वारा अभिभावकों को नियन्त्रित रखने पर बल दिया है–"इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"[2]

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शिक्षा की आवश्यकता को देखते हुए बालक एवं बालिकाओं को जबर्दस्ती विद्यालय में भेजने का आग्रह किया–

"सबको शिक्षित करने के लिए आवश्यक है कि अनिच्छुओं को जबर्दस्ती शिक्षित किया जाये।"[3]

इस प्रकार स्वामी जी ने सभी को अनिवार्य रूप से शिक्षा देने पर जोर दिया। जहाँ वे प्राचीन शिक्षा पद्धति के पोषक थे, वहाँ पर वे नवीन विषयों को भी अंगीकार करके चलते थे। शिक्षा की महत्ता केवल लड़कों के लिए ही नहीं बल्कि शिक्षा पर लड़कियों का भी समान अधिकार है।

समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण :

समाज प्रत्येक व्यक्ति का कार्यक्षेत्र है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी आचार्य से न्यूनतम २५ वर्ष तक गुरुकुल में अध्ययन करता था। गुरुकुल में ब्रह्मचारी, आचार्य,

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १० अक्टूबर, १९११, पृ० ६

२. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० २७

३. सद्धर्म प्रचारक, १ अक्टूबर, १९११, पृ० ६

कर्मचारी आदि सभी व्यक्तियों का मिलकर एक गुरुकुलीय समाज होता था। शिक्षाकाल में उन सीमित व्यक्तियों से ही व्यवहार एवं समायोजन करना पड़ता था। शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् छात्र गुरुकुल में दिये गये वर्ण के अनुसार उसी स्वभाव वाली कन्या से विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् ही वास्तविक समाज से साक्षात्कार होता था। समाज की समताओं-विषमताओं, अच्छाइयों, बुराईयों आदि से गुजरना होता था।

इसलिए समाज में हर व्यक्ति अपने को ठीक से व्यवस्थित कर सके। समाज में बुराई न पनपने पाये और जो बुराइयाँ हैं वे छूट जायें। इसी उद्देश्य से स्वामी जी ने समय-समय पर **'सद्धर्म-प्रचारक'** के माध्यम से आचार-अनाचार, भक्ष्य-अभक्ष्य, विधवा विवाह, बाल विवाह-निषेध पर अपने दृष्टिकोण को लोगों के सामने रखा।

आचार-अनाचार :

जो कार्य उत्तम हैं, जिससे समाज की राष्ट्र की भलाई होती है, जिससे आत्मोन्नति होती है वह आचार है। और जिससे समाज और राष्ट्र का अहित होता है, वह अनाचार है–

"धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि आचरण और इससे विपरीत अनाचार कहाता है।"[१]

जो वेदादि सत्शास्त्रों के अनुकूल कार्य हैं वह आचार हैं। माता-पिता, गुरु-वृद्धजनों की सेवा और आज्ञापालन करना आचार है। छल, स्वार्थीपन, अहंकार आदि अनाचार हैं–

"जो सत्य भाषणादि का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है। माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करनी देवपूजा कहाती है और जिस-जिस कर्म से जगत् का [illegible]र हो वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करे। आप्त जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकार प्रिय जन हैं उनका सदा संग करने का ही नाम श्रेष्ठाचार है।"[२]

देश-हित, जाति-हित, समाज-हित एंव आत्मोन्नति हेतु उत्तम आचरण करना आचार कहाता है और जो स्वार्थीपन, लम्पटता, दुष्टता, कपट आदि दुर्गुण हैं, उनको अनाचार कहा जाता है।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १६१०, पृ० ३
२. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १६१०, पृ० ३

भक्ष्य-अभक्ष्य :

खाने योग्य पदार्थ भक्ष्य पदार्थ हैं ओर जो खाने योग्य नहीं या जिनके खाने से शरीर, मन पर दुष्प्रभाव पड़ता है, वे अभक्ष्य पदार्थ हैं। जिन पदार्थों के सेवन से शरीर पुष्ट हो, उन पदार्थों का सेवन करना चाहिए। बुद्धि का नाश करने वाले मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए–

"जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्य मांसाहारी मलेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है उनके हाथ का न खावे।"[१]

जिन पदार्थों का सेवन करने से स्वास्थ्य बढ़े, बुद्धि की वृद्धि, रोगादि का नाश हो, ऐसे उत्तम पदार्थों का सेवन करना चाहिए–

"जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि-बल-पराक्रम-वृद्धि होवे उन तण्डुलादि गोधूम फल, मूल, कन्द, दूध आदि मिष्टादि पदार्थों का सेवन तथा योग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना, सब भक्ष्य पदार्थ कहाता है।[२]

छुआ-छूत :

वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र–ये चार वर्ण थे। शूद्र का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। किन्तु शूद्र को अस्पृश्य नहीं माना जाता था। शूद्र ही द्विजों के घर में खाना बनाना आदि सेवा कार्य करता था जिससे द्विज अपने-अपने कार्य यथासमय और अच्छी तरह कर सकें। किन्तु मध्यकाल में शूद्रों को अस्पृश्य समझा जाने लगा। द्विज उसे अपने पास नहीं आने देते थे और न ही कोई वस्तु देने देते थे। किन्तु १९वीं शती में स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता का विरोध किया और कहा कि सेवा कार्य शूद्रों को ही करनी चाहिए। उन्हें अस्पृश्य नहीं समझा जाना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द जी का भी यही मत था–

"शूद्र के हाथ की बनायी खावे क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ने-पढ़ाने, राज्य पालने और पशुपालन खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहें।"[३]

वैदिक धर्मानुयायी किसी को अस्पृश्य नहीं मानते। यदि शूद्र को अस्पृश्य मानते तो शूद्र के हाथ से भोजन बनवाने का विधान क्यों करते ? तीनों उच्च वर्ण या सवर्ण

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १९१०, पृ० ५
२. वही
३. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १९१०, पृ० ४

साथ बैठकर शूद्र के हाथ का बना हुआ भोजन खा सकते हैं। हाँ, एक ही बर्तन में एक-दूसरे का उच्छिष्ट खाना सर्वथा गलत है। किसी का झूठा कदापि नहीं खाना चाहिए–

"ऋषि दयानन्द वर्तमान छूतछात का आचार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं समझते थे और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों के एक पंक्ति में बैठकर खाने का समर्थन करते थे। शूद्र के हाथ का बनाया भोजन द्विजों को ग्राह्य समझते थे और किसी को भी घृणित दृष्टि से देखने की आज्ञा नहीं देते थे। हाँ, मुसलमानों की तरह एक दस्तखान पर बैठकर एक ही रिकाबी में हाथ डालकर खाने के विरुद्ध थे।"[१]

वैदिक धर्म के अनुसार कोई भी वर्ण अस्पृश्य नहीं है। कार्य के आधार पर गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार समाज के व्यक्तियों को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। ऐसा ही रूप समाज का वर्तमान में स्वामी श्रद्धानन्द देखना चाहते थे।

विधवा विवाह :

जिस स्त्री का पति मर जाता है उस स्त्री को विधवा कहते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से विधवाओं पर जुल्म होते आए हैं। उन पर तरह-तरह के दोषारोपण किए जाते हैं। उनको विभिन्न प्रकार से सताया जाता रहा है। वैसे तो सभी जातियों में विधवाओं की दशा दयनीय और शोचनीय है किन्तु बंगाली जाति में विधवाओं की अवस्था सबसे अधिक दयनीय है। उन पर समाज अनेक प्रकार के लांछन लगाने से नहीं चूकता। अवसर मिलने पर दुष्ट व्यक्ति अपमान करते और यहाँ तक कि उसकी विभिन्न तरीकों से बेइज्जती करते हैं। हिन्दू विधवाओं की कारुणिक दशा पर स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं–

"हिन्दू विधवाओं की दशा पर देशभक्त सज्जन चिरकाल से विचार करते आए हैं। उन पर भारतवर्ष के किसी-किसी प्रान्त में बड़ा ही अन्याय होता है। बंगाल में विधवाओं के सिर मुँडाकर उनकी जो दुर्दशा की जाती है वह किसी शिक्षित सभ्य से भी छिपी हुई नहीं।"[२]

जब कोई स्त्री विधवा और कोई पुरुष विधुर हो जाय तो वे नियमपूर्वक नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। विधवा यदि किसी अन्य से संयोग करके पुत्र उत्पन्न करना चाहें तो वह पुरुष की इच्छा से नियोग करके सन्तान उत्पन्न कर सकती है। किन्तु आजकल नियोग का विधिवत पालन करने वाले धर्मात्मा नहीं हैं। इसलिए

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १९१०, पृ० ४
२. सद्धर्म प्रचारक, ४ नवम्बर १९०८, पृ० ७

अच्छा यह है कि विधवाओं और विधुरों का पुनः विवाह करा दिया जाय–

"मैं यह मानता हूँ कि द्विजों में विधवा नारी तथा रंडवे पुरुष के लिए नियोग से सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा है, किन्तु इस गिरे हुए समाज में नियोग के नियम पालन करने वाले धर्मात्मा कहाँ हैं ? मैं यह भी मानता हूँ कि कामातुरता से अन्धे होकर पिशाच कर्म करने की अपेक्षा शूद्रों का-सा पुनर्विवाह भी अच्छा है।"[1]

द्विज-विधवाओं के लिए नियोग का विधान किया गया है, किन्तु आजकल की नियोग व्यवस्था पुरुषों एवं स्त्रियों में कामुकता और उच्छृङ्खलता की वजह से कामयाब नहीं हो सकती। इसलिए विधवा और विधुर के लिए पुनर्विवाह का विधान कर दिया गया है। सभी विधवाओं को न तो विवाह का अधिकार है और सभी विधवाएँ पुनः विवाह भी करना नहीं चाहती। जिन विधवाओं को पुनर्विवाह करने का विधान नहीं है और जो विधवाएँ पुनर्विवाह करना नहीं चाहती, उनके लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी का विचार है कि विधवाश्रम खोलने चाहिएँ। विधवाश्रम खोलकर उन आश्रमों में ही उनके भरण-पोषण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

बाल-विवाह निषेध :

लड़का न्यून से न्यून २५ वर्ष का हो और लड़की कम से कम सोलह वर्ष की हो तभी विवाह करना चाहिए क्योंकि २५ वर्ष तक लड़के में वीर्य की वृद्धि होकर शरीर पुष्ट होता है और लड़की १६ वर्ष में गर्भ धारण करने लायक होती है। इससे पहले यदि लड़के-लड़की का विवाह कर दिया जाता है तो उसे बाल विवाह की संज्ञा दी जाती है। हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा मुस्लिम काल से चली है। उस समय हिन्दू मुस्लिम आक्रान्तओं के भय से बाल्यकाल में ही अपनी पुत्रियों का विवाह कर देते थे।यही कुप्रथा भारतवर्ष में अब तक चली आ रही है। बाल-विवाह से अनेक हानियाँ होती हैं। पूर्ण युवा होने से पूर्व यदि विवाह कर दिया जाता है तो लड़के-लड़की का शरीर पुष्ट नहीं हो पाता और धातु भी पुष्ट नहीं हो पाते। इससे उनसे उत्पन्न होने वाली संतान कमजोर होगी। बाल-विवाह होने से संतान तो कमजोर होगी इसके साथ संतान पैदा भी अधिक होगी जिससे जनसंख्या वृद्धि से अनेक समस्याएँ भी पैदा हो जायेंगी।

समाज को चुस्त-दुरुस्त बनाने के लिए स्वामी जी ने सभी को आचार-अनाचार, भक्ष्य-अभक्ष्य की शिक्षा देने के साथ-साथ, बाल-विवाह से होने वाली हानियों से भी वैमनस्य भावना को भी उजागर किया। इस प्रकार वे समाज के सुन्दर व स्वस्थ रूप

---

१. सद्धर्म प्रचारक, ४ नवम्बर, १६०८, पृ० ७

को देखने के पक्षधर थे।

राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण :

प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रहित सबसे प्रधान रखना चाहिए। यदि अपना देश ही नहीं रहेगा तो व्यक्ति का अपना अस्तित्व स्वयं ही नष्ट हो जाएगा। देश की व्यवस्था बिगड़ रही है। भारत के व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के व्यसन आ गये हैं। शराब के सेवन की आदत अत्यधिक बढ़ रही है। पहले तो शराब बाहर से आयात की जाती थी। अब भी उतना ही शराब अन्य देशों से आयात हो रही है। साथ ही अपने देश में शराब का उत्पादन अत्यधिक मात्रा में किया जाने लगा है। यद्यपि स्वामी जी का विचार था कि स्वदेशी वस्तुओं का अधिक उत्पादन करना चाहिए और उनका ही उपभोग करना चाहिए। किन्तु उनका विचार था शराब जैसी जहरीली वस्तु का उत्पादन बिल्कुल नहीं होना चाहिए। शराब के सेवन से बल-बुद्धि का नाश होता है। इस जहरीली वस्तु के उत्पादन को बढ़ावा कदापि नहीं देना चाहिए। इसे देशप्रेमीजन जड़ से नष्ट करने का प्रयास करें जिससे इस शराब रूपी जहर का उत्पादन बन्द हो सके–

"अंग्रेजी शराब की आमद में कमी नहीं हुई किन्तु यह निश्चय है कि स्वदेशी शराब की बढ़त हो रही है। स्वदेशी के कोई-कोई प्रचारक इसको भी अपने लिए गौरव और मान का हेतु समझेंगे किन्तु मेरी सम्मति में यह शोचनीय काम है। एक विष की पैदावार को मुकाबले में बढ़ाने की अपेक्षा क्या यह अच्छा न होगा की स्वदेशी के प्रेमी उन विषों के प्रचार को जड़मूल से काट डालें।"[१]

स्वामी जी केवल यही नहीं चाहते थे कि भारतवासी भारत में ही सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करें अपितु उनका विचार था भारत के व्यक्तियों को विश्व के सभी देशों में उचित सम्मान मिलना चाहिए। उनके साथ कहीं भी दुर्व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने पर स्वामी जी लिखते हैं–

"दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों का रहना अधिकतर कठिन हो रहा है। ट्रान्सवाल में रजिस्ट्रेशन एक्ट के अनुसार एक पढ़े-लिखे पारसी को आज्ञा मिली है कि एक सप्ताह में ट्रान्सवाल छोड़ कर निकल जाए। नेटाल के गोर्मेन्ट (गवर्नमेन्ट) ने आज्ञा दी है कि १६०८ ई० के बाद किसी भी भारतीय को नेटाल में बसाने की सनद न मिलेगी। लोग आश्चर्य करते हैं कि भारतवासी जबकी इंग्लिस्तान की प्रजा समझी जाती है तो ट्रान्सवाले तथा नेटाल आदि उपनिवेशों में उनका इतना अधिक अपमान क्यों हुआ करता है।"[२]

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १६ मई १६०६, पृ० २

२. वही

स्वामी जी ने देश को सर्वोपरि माना है। वे भारत को सम्पूर्ण विश्व में गौरवपूर्ण स्थान दिलाना चाहते थे। भारतदेश में ही नहीं अपितु उनका मानना था कि भारतीयों को विश्व के प्रत्येक देश में उचित सम्मान मिलना चाहिए। विश्व में भारत देश और भारतीय व्यक्तियों को उचित सम्मान दिलाने के लिए उन्होंने सतत प्रयास किया।

हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी दृष्टिकोण :

स्वामी जी का मानना था कि सभी मनुष्य एक ईश्वर की सन्तान हैं। इसलिए उन्हें प्यार एवं सौहार्द्र से रहना चाहिए। यद्यपि स्वामी जी वैदिक धर्म को मानने वाले थे एवं अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ही लगा दिया किन्तु वे किसी अन्य मत या मतानुयायी से विद्वेष नहीं रखते थे। वे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, जैन, बौद्ध, ईसाई आदि सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे। वे कभी भी किसी अन्य मत के धार्मिक स्थल का अनादर नहीं करते थे। मुस्लिम आदि मतों के मानने वाले व्यक्ति जितनी श्रद्धा अपने धार्मिक स्थलों के प्रति रखते हैं उतना ही आदर भाव वे भी उनके धार्मिक स्थलों के प्रति रखते थे। वे कभी भी उनके धार्मिक स्थलों पर जूता या चप्पल नहीं पहन कर जाते थे। संभव है मुस्लिम आदि मतानुयायी अपने धार्मिक स्थल पर चप्पल आदि पहन कर चले गये हों किन्तु उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया।

विभिन्न मतों की एकता से ही देश की उन्नति हो सकती है। स्वामी जी द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी (पुण्य भूमि) में किसी भी धर्म को मानने वाला व्यक्ति आकर ठहर सकता था। केवल ठहरने का ही नहीं अपितु उसे अपने मत के अनुसार ईश्वरोपासना करने की छूट थी। स्वामी जी ने जामा-मस्जिद से हिन्दू-मुस्लिम एकता पर ऐतिहासिक भाषण दिया था। इस भाषण में उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों से एकत्र होकर अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी हिन्दू-मुसलमान और अन्य धर्मों में वैमनस्य नहीं चाहते थे। उनका मानना था कि हम सभी एक ईश्वर की सन्तान हैं। इसलिए हम सभी को मिलकर चलना चाहिए। आपसी सद्‌भावना से ही धर्म, जाति, देश उन्नति कर सकेगा एवं साम्प्रदायिक सद्‌भाव से ही सर्वतोमुखी विकास संभव है।

स्वामी जी राजनीति से मुँह नहीं मोड़ते थे। वे अपने अधिकार के लिए आवाज उठाने को सर्वथा उपयुक्त मानते थे। देश को सर्वोपरि मानकर राजनीति करना धर्म है। वे राजनीति को आपसी भेदभाव द्वारा नहीं करना चाहते थे, जैसाकि आजकल के नेता अपनी कुर्सी के लिए निम्न से निम्न हरकत कराने के लिए तैयार रहते हैं।

सिद्धान्त सम्बन्धी दृष्टिकोण :

वेद वैदिक-धर्म के मूल ग्रन्थ हैं। वेद चार हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों का ज्ञान सृष्टि से प्रारम्भ में चार ऋषियों–अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा के माध्यम से ईश्वर ने दिया। वेद ईश्वरीय वाणी है। स्वामी श्रद्धानन्द जी वैदिक धर्मानुयायी थे, इसलिए उन्होंने वेदानुकूल आचरण पर बल दिया। वेदों को ज्ञान और धर्म का मूल स्रोत माना है। उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है–

"जिन कर्मों के करने की आज्ञा वेद देवें वे धर्म हैं। वेद ईश्वर का ज्ञान है। अतः सिद्ध हुआ कि जिन कर्मों को करने की आज्ञा परमात्मा देवे वह धर्म हैं।"[1]

धर्म को धारण करने से ही मनुष्य सुखी बन सकता है। यदि मनुष्य धार्मिक नहीं तो वह पशु के समान है। उसका सभी तरह का सौन्दर्य धर्म के बिना व्यर्थ है। इसलिए प्रत्येक को धर्म का आचरण करना चाहिए। यथा–सुख केवल धर्म के धारण में है। जिस प्रकार अनेक यंत्रों से भरा हुआ मनोहर शरीर जीवात्मा के निकल जाने पर दुर्गन्धमय और घृणित हो जाता है उसी प्रकार संसार के यावत् मनोहर बल हैं वे सब के सब धर्म रहित होने से शोभाविहीन और अकल्याण कारक बन जाते हैं।[2]

वैदिक धर्म सृष्टि के आदि से है, और यही धर्म सभी आर्यों का मूल है। किन्तु मध्यकाल में वैदिक धर्म का ह्रास हो गया था। इस धर्म में अनेक विकृतियाँ आ गयी थीं। यज्ञों में पशुबलि आदि का विधान कर दिया गया था। किन्तु १९वीं शती में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुनः वैदिक धर्म को शुद्ध रूप से प्रतिष्ठित किया। स्वामी श्रद्धानन्द को वैदिक धर्म में पूर्ण आस्था थी तथा उसी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने सतत प्रयास किया।

वैदिक धर्म तीन सत्ताओं–ईश्वर, जीव और प्रकृति को नित्य मानता है। ईश्वर में–सत्, चित् और आनन्द ये तीन गुण हैं, जीव में सत् और चित् गुण है तथा प्रकृति में केवल सत् गुण है। इन तीनों सत्ताओं के सम्बन्ध में स्वामी जी का मन्तव्य इस प्रकार है–

ईश्वर :

ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। सच्चिदानन्द शब्द में उसके तीनों गुण सत्, चित् और आनन्द का समावेश हो गया है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त है। वह मनुष्य आदि सभी प्राणियों एवं अप्राणियों के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है। उससे कोई स्थान रिक्त नहीं है। चारों वेद उसी परमैश्वर्यवान् ईश्वर की उपासना से भरे हुए उसकी सत्ता का भान करा रहे हैं। यद्यपि परमात्मा स्वयं सूक्ष्म अदृश्य है तथापि उसकी सृष्टि सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तारे आदि अत्यन्त विस्तृत और

१. सद्धर्म प्रचारक, १२ जनवरी, १९१०, पृ० ४
२. वही

सुन्दर रचना को देखकर लगता है कि वह इतना सुन्दर उत्तम और प्रकाशमय होगा जिसकी कल्पना कर पाना भी कठिन है। बड़े-बड़े तपस्वियों ने उसका गुण-गान किया है और अपने को पवित्र बनाया है। स्वामी जी ईश्वर के बारे में लिखते हैं–

"परमात्मा जिसकी व्याख्या चारों वेद करते हैं, बड़े-बड़े तपस्वी जिसके गुणों का गान कर अपने को पवित्र बनाते जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं वह सच्चिदानन्द स्वरूप घट-घट में बस रहे हैं।"[१]

जिस व्यक्ति ने ईश्वर को जान लिया और उसके सान्निध्य में पहुँच गया वही संसार में सुखी है। उसे संसार की सभी वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। सबकी खुशी में वह अपनी खुशी समझता है और सदा आनन्दित रहता है। परन्तु जो व्यक्ति ईश्वर को नहीं समझ पाता वह अज्ञानी है और दुःख सागर में डूबा रहता है। स्वामी जी ने कहा है–

"आस्तिक पुरुष एक-एक फूल की पंखुडी और एक-एक पत्ते को देखकर उसके कर्ता की रचना पर मोहित हो जाता और कर्ता का यशगान करने लगता है। आनन्द से उसका हृदय पूर जाता और बारंबार मग्न होता रहता है। परन्तु वह मनुष्यात्मा जिसने इस भेद को न समझा, सन्देह-सागर में डूबता और उतराता है। वास्तविक आनन्द उसके हृदय से दूर रहता और उस स्वर्ग भूमि को नरक भूमि बतलाता और चारों ओर दुःख ही दुःख देखता है।"[२]

ईश्वर से कोई स्थान खाली नहीं है। वह सब जगह रम रहा है। वह अनन्त है। उसकी कोई सीमा नहीं है। वह सभी प्राणियों के अन्दर रमण कर रहा है। ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसके भीतर ईश्वर न हो। वह सभी वृक्षों, वनस्पतियों आदि अचल वस्तुओं में विद्यमान है। परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है–

"मछली समुद्र के भीतर रहती है परन्तु समुद्र मछली के भीतर नहीं रहता, तद्वत् न समझिये कि प्राणी और अप्राणी सब तो परमात्मा के भीतर हैं परन्तु परमात्मा इनके भीतर नहीं रहता। प्रत्युत ऐसा समझिये कि जिस प्रकार लोहार की भट्टी जलती हुई आग जलते हुए लोहे के भीतर तथा उसके बाहर भी व्यापक हो जाती है। उसी प्रकार परमात्मा अपने में स्थित सब प्राणी तथा अप्राणियों के भीतर तथा बाहर भी ओत-प्रोत भाव से व्यापक हो रहे हैं॥"[३]

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ मई, १९०८, पृ० ३

२. वही, पृ० ४

३. वही

परमात्मा केवल सर्वत्र व्याप्त ही नहीं हो रहा है अपितु समस्त संसार का निर्माण करने वाला भी है। ये सारे ग्रह, उपग्रह परमेश्वर की रचनाएँ हैं। अपनी अपार शक्ति के कारण वह विस्तृत ब्रह्माण्ड को सहज रूप से धारण कर रहा है। परमात्मा ब्रह्माण्ड को रचकर उसमें व्याप्त हो रहा है। तथा उसमें स्थित ग्रहों उपग्रहों को नियमपूर्वक एक निश्चित परिधि में परिक्रमा करवा रहा है–

"अनन्त है शक्ति उस परमात्मा की सहज तथा वह सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है। इन लोकों की संख्या हम नहीं जानते, परन्तु परमात्मा जानते हैं। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। और लोक अनेक होने पर भी एक-दूसरे से पृथक् दूर-दूर अपनी सत्ता दर्शा रहे हैं।"[1]

रात्रि में टिमटिमाते तारे ऐसे लगते हैं जैसे दीप झिलमिला रहे हों। कल-कल करती हुई नदियाँ, झर-झर झरते झरने, लहलहाते वन और उपवन, मुस्कराती हुई कलियाँ, हँसते हुए फूल, कू-कू करती कोयल, बरबस अपनी तरफ ध्यान आकृष्ट कर कहते हैं, हमें देखो, हमें सुनो, हम कितने आनन्दित हैं। ये सृष्टि तो परमात्मा की सुन्दरता की झलक मात्र है। स्वामी श्रद्धानन्द के शब्दों में–

"आह ! तारागण रात्रि के समय कैसे मनोहर मालूम होते हैं, मानो आकाश में प्रकाश के फूल खिल रहे हों और अपने बनाने वाले को बारम्बार बतलाते हुए दर्शकों से कह रहे हैं कि हमारी शोभा पर क्या मुग्ध होते हो, सोचो कि जिसने हम सब में इतनी शोभा दी है, वह कैसा अनुपम मनोहर होगा। उसी के दर्शनों से आनन्द-राशि पाकर अपने जन्म सफल करो।"[2]

इस प्रकार स्वामी जी निराकार सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ईश्वर का प्रतिपादन कर उसकी भक्ति की तरफ लोगों को लगाना चाहते हैं।

जीव :

जीव अनादि और अमर है। आत्मा न तो कभी पैदा हुआ और न ही कभी नष्ट होगा। जीवात्मा विभिन्न शरीरों में प्रवेश करके उन्हें गति प्रदान करती है। एक निश्चित अवधि के बाद शरीर तो नष्ट हो जाता है, परन्तु आत्मा नष्ट नहीं होता, वह तो अजर-अमर है, वह शरीर को बदलता रहता है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने इस बात को पुष्ट किया है–

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १० फरवरी, १६०६, पृ० ४

२. वही

" वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ।।"[1]

शरीर नाशवान् है। आत्मा अजर अमर है। उसे शस्त्र काट नहीं सकते। आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता। वायु सुखा नहीं सकती। इस विषय पर भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक : ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।"[2]

यह विषय अत्यन्त विवाद का है, कि जीवन केवल पृथिवी पर ही, या अन्य ग्रहों-उपग्रहों पर भी है। स्वामी दयानन्द व वैदिक धर्म की मान्यता है कि हमारी इस पृथिवी जैसी अनेक पृथ्वियाँ हैं जिन पर जीवन है। स्वामी दयानन्द ने पृथिवी, चन्द्रमा आदि आठ वसु माने हैं। वसु उन्हें कहते हैं, जिन पर जीव बसते हों या जिन पर जीवन है। इन असंख्य पृथिवयों, ग्रहों, उपग्रहों पर जीव अपने-अपने कर्मानुसार शरीर प्राप्त करते हैं, और कर्मों का फल भोग रहे हैं। जो जीव ईश्वर की उपासना करके ईश्वर के सान्निध्य में पहुँच जाता है, वह आनन्द को प्राप्त करता है। योग-साधना और ईश्वर स्तुति से जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। मोक्ष एक निश्चित अवधि के लिए होता है। स्वामी दयानन्द ने इसकी अवधि लिखी है। इस अवधि के बाद जीव पुनः संसार में जन्म लेता है। मोक्ष अत्यधिक योग साधना और ईश्वर-स्तुति से ही सम्भव है। मोक्ष में जीव ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। इस प्रकार असंख्य सौर जगत् में असंख्य शरीरधारी निवास करते हैं। इन सब वसुओं के अनेक शरीरधारी नाना प्रकार के ऐहिक सुख भोगते हैं और जो उनमें साधन-सम्पन्न हो ज्ञानी बन सकते हैं, वे पारलौकिक सुख को भोगते हुए परमात्मा का यशगान कर रहे हैं।[3]

वेदान्त दर्शन मानने वालों का कथन है कि केवल ब्रह्म सत्य है, और यह जगत् मिथ्या है–**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** । जीव ब्रह्म का ही अंश है। जीव अज्ञानतावश अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। माया से ग्रसित होकर जीव इधर-उधर फिरता है। वह अपना स्वरूप भूल जाता है। किन्तु जब जीव को ज्ञान

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक २२
२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ३
३. सद्धर्म प्रचारक, १० फरवरी, १९०६, पृ० ४

हो जाता है तब वह अपने स्वरूप को समझ लेता है। वह जान जाता है कि जीव ब्रह्म का ही अंश है। मैं ब्रह्म हूँ–**'अहं ब्रह्मास्मि'**। मैं इससे पृथक् नहीं हूँ। किन्तु वैदिक धर्म की मान्यता इससे भिन्न है। वैदिक धर्मावलम्बी ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को ही अनादि मानते हैं। जीव ईश्वर का अंश नहीं अपितु जीव भी ईश्वर की भाँति अमर है। उसकी सत्ता अलग है। ईश्वर एक है। जीव असंख्य हैं। जीव अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाकर अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। जीव एक देशीय है तो परमात्मा सर्वव्यापक है। वह सभी के शरीर में व्याप्त है।

अब प्रश्न होता है कि जब शरीर में आत्मा का निवास है तो परमात्मा उसमें किस प्रकार रह सकता है। जिस स्थान पर एक वस्तु रखी है वहाँ पर दूसरी वस्तु नहीं रखी जा सकती। वस्तुएँ स्थूल हैं इसलिए एक स्थान में दो वस्तुएँ नहीं रखी जा सकती हैं परन्तु परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, वह सभी आत्माओं में भी निवास कर रहा है। किसी पात्र में यदि आलू भर दिया जाए तो उन आलुओं के बीच में काफी जगह खाली रहती है। उस जगह में यदि चाहें तो हम काफी सरसों भर सकते हैं। क्योंकि आलू स्थूल है, और सरसों सूक्ष्म है। इसलिए आलुओं में ही सरसों आ गई। उसमें कोई अतिरिक्त स्थान नहीं घेरा। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा से सूक्ष्मतर है। इसलिए परमात्मा आत्मा में ही व्याप्त हो रहा है। एक जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती, यह नियम स्थूल वस्तुओं पर भी घटित होता है। यह नियम आत्मा-परमात्मा पर घटित नहीं होता। स्वामी दयानन्द सरस्वती 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखते हैं–

"यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है। असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत अग्नि व्यापक होकर एक ही आकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।"[1]

जीव ईश्वर का अंश नहीं है। आत्मा अजर-अमर है। वह विभिन्न शरीरों में प्रवेश कर उन्हें गति प्रदान करता है। जीव असंख्य हैं और वे अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जाकर कर्मों का फल भोगते हैं।

प्रकृति :

प्रकृति शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का अपना स्वभाव या उस वस्तु का अपना मूल स्वरूप। सृष्टि तो प्रकृति का विकृत रूप है। सृष्टि से पूर्व की जो अवस्था होती

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १२६

है, उसका नाम प्रकृति है। उस समय वृक्ष, वनस्पतियाँ, ग्रह, उपग्रह, सौरमण्डल आदि कुछ भी नहीं होता। सृष्टि कार्य रूप है, प्रकृति कारण रूप है। प्रकृति से सृष्टि का निर्माण ईश्वर अपनी सामर्थ्य से करता है। इस संसार का निमित्त कारण परमात्मा है और उपादान कारण प्रकृति है।

सृष्टि :

प्रकृति रूपी उपादान कारण से सृष्टि का ईश्वर ने निर्माण किया। सृष्टि में मनुष्य, जीव, जन्तु, वृक्ष, वनस्पतियाँ, ग्रह, उपग्रह, पृथिवी, चन्द्रमा, नक्षत्र, सौरमण्डल आदि सभी कुछ समाहित हैं। जगत् की उत्पत्ति में तीन कारण हैं–१. निमित्त, २. उपादान, ३. साधारण।

"निमित्त कारण उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं दूसरों को प्रकारान्तर से बना देवें। दूसरा उपादान कारण उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्था जनित रूप होकर बने और बिगड़े भी। तीसरा साधारण कारण उसे कहते हैं, जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो।"[१]

ईश्वर निराकार है। उसके हाथ-पैर आदि कोई भी अंग नहीं है। जब उसके कोई अंग नहीं हैं तो उसने अत्यधिक विस्तृत इस सृष्टि का निर्माण किस प्रकार किया, हम संसार में देखते हैं कि छोटी से छोटी वस्तु बनाने में भी जीव को हाथ-पैरों की सहायता लेनी पड़ती है। इस विषय में वैदिक धर्म की मान्यता है कि यद्यपि परमेश्वर के हाथ-पैर आदि अंग नहीं हैं, तथापि उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य है कि वह सत्व, रजस्, तमस् से कार्यरूप सृष्टि का निर्माण करने में पूर्णया सक्षम है।

"जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रिय गोलक हस्तपादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति, बल, पराक्रम हैं। उनसे सब काम करता है। जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है, तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है।"[२]

खाली जगह अन्तरिक्ष कहा जाता है। अन्तरिक्ष की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, और न ही आकाश का कभी नाश होता है। आकाश सदा रहता है। प्रलय काल में इसमें प्रकृति के परमाणु बिखरे रहते हैं। जब परमात्मा सृष्टि का निर्माण करना चाहता है तब परमाणु आपस में मिलकर सृजन करते हैं।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० १४१

२. वही, पृ० १४४

"अन्तरिक्ष की वास्तव में उत्पत्ति नहीं होती केवल व्यवहार और सृष्टि-प्रकरण के समझाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। प्रलय काल में परमाणुओं के बिखरे रहने के कारण आकाश का एक बृहद् भाग परमाणुओं से भरा रहता है। जब परमाणुओं को परमात्मा इकट्ठा करने लगता है तो वह आकाश जो परमाणुओं से भरा पड़ा था, परमाणुओं से रहित हो जाता है। अर्थात् खाली जगह निकल आती है, इसी खाली जगह को अन्तरिक्ष कहते है।"[१]

ये पूर्ण चन्द्र-तारे सभी उसी परमपिता परमात्मा की ही रचना है। चमचमाते हुए सितारे उस प्रकाशमान परमेश्वर की ओर इशारा कर रहे हैं। उसी परमज्ञानी ईश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया है। चारों वेद उस परमेश्वर का गुण-गान कर रहे हैं। जिसने वेदों द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-जाति को ज्ञान दिया।

"ये सब लोक केतुओं (पताकाओं) की तरह उस ज्ञान-प्रकाशमय परमात्मा देव की सूचना दे रहे हैं जिससे कि वेद निकले हैं और जिसने कि इस ब्रह्माण्ड रूप मनोहर दृश्य को प्रकाशित किया है।"[२]

मुक्ति :

मुक्ति शब्द मुचूलृ मोचने धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता हैं।

"मुञ्यति पृथग् भवन्ति जना यस्यां सा मुक्ति"

जिसमें कवि सांसारिक बन्धन से छूट जाता है उसे मुक्ति कहते हैं।

जीव संसार में जन्म लेकर सांसारिक माया-मोह में फँस जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर इस संसार में ही आनन्द खोजने का असफल प्रयास करता है। वह अज्ञानतावश सांसारिक सम्बन्धों, माया-मोह के आकर्षण आदि को ही वास्तविक सुख मानकर ईश्वर की उपासना छोड़ देता है। इसी से उसमें अविद्या आदि दुर्गुण आ जाते हैं। यही दुर्गुण उसके बन्धन के कारण हैं। जीव किन कारणों से बन्धन में फँसता है और किन उपायों से वह बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है, इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं–

"परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ का ज्ञान उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १० फरवरी, १६०६, पृ० ४

२. सद्धर्म प्रचारक, ३ जून, १६०८, पृ० ६

करने और जो कुछ करे, वह सब पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करें, इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि से बन्ध होता है।"[1]

वेदानुकूल आचरण करना, ईश्वर की आज्ञा को मानना, ईश्वरोपासना आदि उत्तम गुणों से मुक्ति होना संभव है। तथा वेदों के प्रतिकूल आचरण करने, ईश्वर की आज्ञा न मानने, ईश्वरोपासना से रहित होने आदि कारणों से जीव अपने स्वरूप को भूलकर सांसरिक बन्धनों में फँस जाता है। यही जीव के बन्ध के कारण हैं। अविद्या राग आदि क्लेशों को छोड़ कर शुद्ध आचरण करता हुआ जीव ईश्वर की उपासना में निरत होता है, तब जीव को मुक्ति प्राप्त होती है।

"परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।"[२]

अविद्या का नाश हो जाने से तथा ज्ञान आ जाने से ईश्वर की उपासना से, सत्याचरण से, शुद्धाचरण से मुक्ति हो जाती है। अब प्रश्न उठता है कि मुक्ति क्या है ? इसकी प्राप्ति के लिए प्रयास क्यों किया जाए ? आचार्य गौतम ने न्यायदर्शन में मुक्ति या मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी हैं–

'दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरामये तदनन्तरापायादपवर्गः बाधना लक्षणं दुःखमिति ।।/२

तदत्यन्त विमोक्षादपवर्ग : ।। -३

जब मिथ्या ज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती हैं। उसके नाश होने से फिर जन्म नहीं होता। उसके होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से परमानन्द मोक्ष में परमात्मा के साथ आनन्द भोगता है। इसी का नाम मोक्ष है।"[३]

जीव जब मुक्त हो जाता है, जब वह कहीं भी घूम सकता है। वह अपनी इच्छाशक्ति से सभी लोक-लोकान्तर में भ्रमण करता है। उसके लिए समय और दूरी का कोई बन्धन नहीं होता।

जीव अव्याहत गति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं विज्ञान-आनन्दपूर्वक

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, नवम समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० १६१

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (मुक्ति विषय), स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० १६०

३. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १६१०, पृ० ६

विचरण करता है।

मुक्ति के बाद जीव पुनः संसार में जन्म ग्रहण करता है। या वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है, यह विवाद का विषय है। बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि जीव मोक्ष में जाकर पुनः संसार में नहीं लौटता–**"यत्र गत्वा न विवर्त्तन्ते तद् धाम परमं पदम्'**। किन्तु वैदिक धर्म की मान्यता है कि मोक्ष का समय बहुत अधिक है, इसलिए हम उसे अनन्त कह सकते हैं। लेकिन एक निश्चित समय के बाद जीव पुनः संसार में आता है। मोक्ष का काल बताते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं–

"३६००० (छत्तीस सहस्र) बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय तक जीव मुक्ति में रहता है।"[1]

सांसारिक माया, मोह, जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मुक्ति है। मुक्ति-काल बहुत अधिक है। इसलिए सामान्यतया कह दिया जाता है कि मुक्ति सदा के लिए हो जाती है या मुक्ति का काल अनन्त है। किन्तु मुक्ति सदा के लिए नहीं होती। मुक्ति काल के बाद मुक्त जीव पुनः संसार में आकर अपने कर्मों का फल भोगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द के वेदानुकूल मन्तव्यों को ध्यान में रखते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने भी भक्ष्य-अभक्ष्य आचार-अनाचार को प्रतिपादित करने के साथ बाल-विवाह के दोषों को भी दर्शाया। शिक्षा भी सभी के लिए अनिवार्य रूप से मानी। देश-हित से जुड़ी राजनीति को उत्तम बताकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों–ईश्वर, जीव, प्रकृति और मोक्ष आदि को स्पष्ट किया।

***

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ जुलाई, १९१०, पृ० ६

चतुर्थ अध्याय

'सद्धर्म प्रचारक' और 'श्रद्धा' के लेखों का विषय तथा भाषा की दृष्टि से मूल्यांकन

"साहित्य समाज का दर्पण होता है"–इस मन्तव्य के आधार पर पत्रकारिता भी साहित्य का प्रमुख अंग है। प्रत्येक पत्र अपने युग को प्रतिबिम्बित करता हैं। उसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति के परिवेश में तत्कालीन समाज का चित्रण होता है। जो सामान्य जनता की जरूरतें होती हैं उन्हें भी बल प्रदान करने में ये पत्र-पत्रिकाएँ अपना सहयोग देती हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने 'सद्धर्म प्रचारक' तथा 'श्रद्धा' नामक पत्रिका को मुख्य रूप से आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए निकाला था। उनके लेखों में धार्मिकता का पुट अधिक रहता था। एक अच्छा सम्पादक तत्कालीन परिस्थितियों से भी आँखें बन्द नहीं कर सकता। वह देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों पर भी नजर रखता है। स्वामी जी की पत्रकारिता केवल धार्मिकता तक ही सीमित न रही बल्कि उन्होंने सभी क्षेत्रों के कालुष्य धोकर सृजनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। उनकी पत्रकारिता में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक आदि विषयों का यथोचित समन्वय रहता था।

भाषा :

स्वामी जी ने इन विविधात्मक विचारों को सरल व सुग्राह्य बनाकर लोगों के सामने प्रस्तुत किया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रहकर अपना विकास नहीं कर सकता। समाज में रहकर अपने विचार दूसरों पर प्रकट करना उसका स्वभाव है। वह ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करता हैं जो दूसरों के कानों तक पहुँचकर उसके भावों या विचारों को ग्रहण कर सके। प्रारम्भ में वह संकेतों के द्वारा अपने भावों या विचारों को प्रकट करता था। बाद में ध्वनियों का सार्थक समूह विचार प्रकट करने का माध्यम बना। गूँगा संकेतों और अस्पष्ट ध्वनियों के द्वारा अपनी बात समझाने की चेष्टा करता है।

संस्कृत में बोलने को 'भाष्' कहते हैं। 'भाष्' धातु से ही 'भाषा' शब्द बनता है, जिसका प्रयोग व्यक्त वाणी के लिए किया जाता है। पशु-पक्षियों की बोली तथा मानवकृत इंगितों व संकेतों की भाषा, वस्तुतः भाषा कहलाने की अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि वह 'अव्यक्त वाक्' है। विचार प्रकट करने का मूल आधार 'भाषा' है। आम

बोल-चाल में जिसे 'बोली' कहा जाता है वह शास्त्र में 'भाषा' कहलाती है। भाषा एक व्यवस्था है—ध्वनि, शब्द और वाक्य इसकी विभिन्न इकाइयाँ हैं। इसी के फलस्वरूप बोलने वाला जो कुछ कहता है, सुनने वाला ठीक वही सुनता व समझता है। वह व्यवस्था प्रतीकात्मक है। जैसे 'जल' शब्द 'पानी' का प्रतीक है। सामान्य रूप से भाषा—जिस साधन के द्वारा मनुष्य अपने भावों और विचारों को बोलकर या लिखकर प्रकट करता है, उसे भाषा कहते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के भाषा के सम्बन्ध में विचार द्रष्टव्य हैं—

"जिन यादृच्छिक तथा विभिन्न अर्थों में रूढ़ ध्वनि-संकेतों के द्वारा मनुष्य अपने भावों-विचारों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें 'भाषा' कहते हैं।"[१]

"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"[२]

"भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित अध्ययन-विश्लेषणीय यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"[३]

पाश्चात्य विद्वानों के भाषा के सम्बन्ध में कथन इस प्रकार हैं—

"The common definition of speech is the use of articulate sound-symbols for the expression of thaught."[4]

"A Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group cooperates."[5]

भाषा के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं— **१. कथित भाषा, २. लिखित भाषा।** जिस भाषा को मुख से बोला जाता है और कानों से सुना जाता है उसे कथित भाषा या बोलने की भाषा कहते हैं। जिस भाषा से हम लिखकर तथा पढ़कर अपने मन के भावों तथा विचारों को समझते तथा समझाते हैं, वह लिखित भाषा या लिपि कहलाती है। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में देश की पंद्रह भाषाएँ स्वीकार की गई हैं— १. असमिया, २. उर्दू, ३. उड़िया, ४. कन्नड़, ५. कश्मीरी, ६.

१. भाषा विज्ञान, डॉ० कर्णसिंह, पृ० २४

२. सामान्य भाषा विज्ञान, डॉ० बाबूराम सक्सेना, पृ० ६

३. सामान्य भाषा विज्ञान, डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० ४

४. Speech and Language, A. H. Gardiner, संदर्भांकित भाषा, रहस्य, पृ० ४३

५. ब्लॉक तथा ट्रेगर, संदर्भांकित भाषा विज्ञान, पृ० २

गुजराती, ७. तमिल, ८. तेलुगू, ६. पंजाबी, १०. बंगला, ११. मराठी, १२. मलयालम, १३. संस्कृत, १४. सिंधी, १५. हिन्दी। संविधान के अनुच्छेद ३५३ के अनुसार संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।

महात्मा मुंशीराम ने प्रारम्भ में 'सद्धर्म प्रचारक' को उर्दू में निकाला था। सन् १८८६ से सन् १६०७ तक यह पत्र उर्दू में ही निकलता रहा। एक दिन महात्मा मुंशीराम से किसी ने कह दिया कि आप अपने को दयानन्द का पक्का सेवक मानते हो और पत्र उर्दू में निकालते हो। दयानन्द तो अहिन्दी भाषी प्रदेश के होते हुए भी अपना सारा साहित्य हिन्दी में लिख गये हैं। बस तभी से मुंशीराम ने अपने पत्र को हिन्दी में निकालने का संकल्प लिया और १ मार्च, १६०७ से 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र हिन्दी में निकालने लगे।

शैली :

प्रायः भारतीय वाङ्मय में 'शैली' शब्द इधर अंग्रेजी शब्द 'स्टाइल' के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रयोग और प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'शैली' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'शील' से मानी जाती है।''[1]

शील के अनेक अर्थ हैं–स्वभाव, प्रकृति, चरित्र, रुचि, आदत आदि।[2] ये सभी अर्थ व्यक्ति की विभिन्न विशिष्टताओं के द्योतक हैं, जैसे स्वभाव मन की विशेष प्रकृति का सूचक है, लक्षण स्वरूप की विशेषता का, झुकाव रुचि की विशेषता का और आदत कर्म की विशेषता का। इस प्रकार कह सकते हैं कि 'शील' शब्द बहुत व्यापक है–उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मनोवृत्ति, रुचि, आदत, व्यवहार, चरित्र आदि विभिन्न पक्षों से है। दूसरी ओर 'शील' का प्रयोग इन पक्षों की किसी एक विशेषता के साथ भी होता है–रूप-शील, गुण-शील, लज्जा-शील आदि। अतः शील का सम्बन्ध व्यक्ति की विभिन्न वैयक्तिक विशेषताओं से है।

'शैली' शब्द व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं की अपेक्षा उसके क्रिया-व्यापारों के ढंग एंव रचना-कौशल के वैशिष्ट्य से अधिक सम्बन्धित है। शब्द-कोष के अनुसार 'शैली' के अर्थ हैं–''ढंग, तरीका, साहित्य में बोल या लिखकर विचार प्रकट करने का विशिष्ट ढंग जिस पर वक्ता या उसके काल, समाज आदि की छाप लगी होती है। जैसे भारतेन्दु की शैली, द्विवेदी युगीन शैली। कोई काम करने अथवा कोई चीज

---

१. काव्यालंकार–सूत्रवृत्ति, डा० नगेन्द्र (भूमिका), पृ० ५४

२. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० १०२२

निर्मित, प्रस्तुत या प्रदर्शित करने का कलापूर्ण ढंग। जैसे चित्र-कला की पहाड़ी शैली, मुगलशैली, राजस्थान शैली आदि। कठोरता, सख्ती।[१] ये सभी अर्थ व्यक्ति की निजी विशेषताओं के स्थान पर उसकी कार्य-पद्धति से अधिक सम्बन्धित हैं जबकि 'शैली' के आधारभूत शब्द 'शील' का सम्बन्ध व्यक्तित्त्व से अधिक है। व्यक्तित्व के स्थान पर व्यक्ति की कार्य-पद्धति से शैली का सम्बन्ध क्यों स्थापित हो गया–इसका समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि किसी भी व्यक्ति के शील का पता उसके कार्य एवं व्यवहार से ही चलता है या उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति क्रिया-कलापों में ही होती है, अतः शैली को व्यक्तित्व के स्थान पर व्यक्ति के क्रियात्मक पक्ष की विशेषता के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा।

आधुनिक युग में 'शैली' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के *'Style'* (स्टाइल) शब्द के समानार्थक रूप में होने लगा है। 'स्टाइल' शब्द के भी विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थ प्रचलित रहे हैं। मूलतः यह शब्द ग्रीक के *'Stylos'* एवं लैटिन के *'Stylus'* से सम्बन्धित है। लैटिन के *'Stylus'* से ही *'Styles'* की व्युत्पत्ति मानी जाती है। *'Stylus'* का मूल अर्थ है– लिखने की नोकदार कलम। किन्तु आगे चलकर इसके समानार्थक 'स्टाइल' के अनेक अर्थ विकसित हो गये, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं– (अ) लिखने का ढंग, (आ) लिखित रचना, (इ) लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता, (ई) साहित्यिक-रचना की रूपगत विशेषताएँ, (उ) बोलने का लहजा, (ऊ) रीति या प्रथा, (ए) किसी कलाकर की रचना-पद्धति की विशिष्टता या किसी युग, जाति, देश या वर्ग विशेष के कलाकारों की रचना-पद्धति की विशिष्टता।[२]

इस प्रकार 'शैली' का मूल अर्थ लिखने का ढंग क्रमशः विभिन्न अर्थों में विकसित होता हुआ 'लेखक की विशेषता' तक पहुँच गया। किन्तु अब इसका प्रयोग केवल लेखन-क्षेत्र में ही नहीं, कला-कौशल के अन्य क्षेत्रों में भी पद्धति-विशेष के लिए होता है। उदाहरण के लिए दर्जी वस्त्रों के विशिष्ट स्टाइल की, नाई बालों के स्टाइल की और पहलवान कुश्ती के विशिष्ट स्टाइल की चर्चा करता है। परन्तु व्यापक अर्थ में 'स्टाइल' शब्द का प्रयोग प्रत्येक कार्य-कला एवं कौशल की पद्धति-विशेष के लिए होता है। ऐसी स्थिति में 'स्टाइल' का सामान्य अर्थ 'पद्धति-विशेष' करना ही अधिक उचित है।

हिन्दी के 'शैली' शब्द का प्रयोग भी 'स्टाइल' के उपर्युक्त अर्थों में ही होता है,

---

१. मानक हिन्दी कोष–श्री रामचन्द्र वर्मा, पृ० १६३

२. साहित्य शैली के सिद्धान्त, लेखक–डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ० १७

किन्तु इसका क्षेत्र अभी तक कलाओं तक ही सीमित है। हम छायावादी शैली के गीतों, कांगड़ा शैली के चित्रों एवं विभिन्न शैली के नृत्यों की चर्चा तो करते हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रों में 'स्टाइल' की भाँति शैली का प्रयोग नहीं करते, जैसे हम अपने बाल कटवाते समय 'अमरीकन स्टाइल' तो कहेंगे किन्तु 'अमेरिकन शैली' नहीं। संभव है आगे चलकर 'शैली' शब्द और अधिक व्यापक हो जाय या यह भी संभव है कि 'स्टाइल' धीरे-धीरे हिन्दी का अपना शब्द बन जाय—किन्तु जहाँ तक साहित्य की शैली का सम्बन्ध है, 'स्टाइल' और 'शैली' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रह गया है, अतः हम दोनों को समानार्थक मान सकते हैं।

सामान्य रूप से शैली को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

१. व्यक्ति वैशिष्ट्य
२. विषय वैशिष्ट्य
३. भाषा वैशिष्ट्य
४. प्रयोजन वैशिष्ट्य

१. व्यक्ति वैशिष्ट्य :

हिन्दी में 'व्यक्तित्व' का प्रयोग प्रायः अंग्रेजी के 'पर्सनैल्टी' के पर्याय के रूप में किया जाता है। पर्सनैल्टी शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के 'पर्सोना' से मानी जाती है। पर्सोना का प्रयोग मूलतः नाटक के पात्रों द्वारा लगाये जाने वाले नकली चेहरों के लिए होता था, किन्तु आगे चलकर नाटक में 'अनुकार्य' व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होने लगा। किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग एक व्यक्ति की उन विशेषताओं के लिए किया जाता है जो उसे दूसरे व्यक्ति से पृथक् करती हैं। व्यक्तित्व के कुल चार भेद करते हुए व्यक्ति की विभिन्न विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. शारीरिक पक्ष : अंग-प्रत्यंगों की पूर्णता, विकास, रूप सौन्दर्य, शारीरिक शक्ति, ऐन्द्रियक क्षमताएँ आदि।

२. बौद्धिक पक्ष : विवेक, बुद्धि, स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, ज्ञान, तर्क एवं चिन्तन शक्ति आदि।

३. भावात्मक पक्ष : सहज प्रवृत्तियाँ, भाव, भावनाएँ, मनोदशा, अनुभूतियाँ आदि।

४. चरित्र एवं कार्य व्यवहार : प्रकृति, स्वभाव, चारित्रिक गुण-दोष, विभिन्न परिस्थितियों के प्रति व्यवहार, इच्छाएँ एवं क्रियाकलाप आदि।

उपर्युक्त शैली-विश्लेषण के आधार पर स्वामी जी की 'व्यक्ति वैशिष्ट्य परक' शैली का विवेचन प्रस्तुत है-

ईश्वर :

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया उससे स्वामी जी की बौद्धिक क्षमता का परिचय मिलता है, यथा-"जिसका अपार ज्ञान मनुष्यों, पशु, कीट, व पतंगों के शरीरों के बनाने में नाना प्रकार की पीत, रक्त, नील, श्वेत पुष्पों, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य तथा तारकावलियों के निर्माण में सिद्ध हो रहा है।"[1]

स्वामी जी के द्वारा प्रस्तुत तर्क का रहस्य जाना जाय तो अपने में अनोखा है। इसमें बड़ी गहरी बात छिपी है। संसार की प्रत्येक वस्तु आँखों से दिखाई नहीं देती। कुछ वस्तुओं को तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु जो दूसरी वस्तुएँ हैं उन्हें जानने के लिए अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है। जिस प्रकार कारण देखकर कार्य का पता लग जाता है ठीक इसी प्रकार कार्य को देखकर कारण का पता लग जाता है। यह सब अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा ही सम्भव होता है।

बाजार में रखे हुए सुन्दर-सुन्दर खिलौनों को देखकर हमारे मन में दो तरह के विचार उठते हैं-प्रथम तो यह कि जो सुन्दर खिलौने हैं वे सब तो किसी उच्च कोटि के कलाकार ने बनाये हैं और जो घटिया किस्म के खिलौने हैं वे निम्नकोटि के कलाकार ने बनाये हैं। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि जब सामान्य खिलौने को देखकर हमारे मन में ये भाव उठने लगते हैं कि खिलौनों के बनाने वाले अवश्य हैं तो इस संसार के पदार्थों को देखकर जिनमें देदीप्यमान सूर्य, चाँद, विस्तृत पृथ्वी, अनगिनत तारे, अचल पहाड़, नाना वनस्पतियों से युक्त वन-उपवन, कल-कल करती नदियाँ, अथाह समुद्र तथा अनेक चित्र-विचित्र जीव-जन्तुओं को देखकर विचार करना चाहिए कि अवश्य ही इनके बनाने वाला भी कोई कारीगर होगा। परन्तु साथ में यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने की है इन समस्त पदार्थों को बनाने की क्षमता किसी सामान्य जीव या व्यक्ति विशेष में नहीं हैं। वह बनाने वाली अदृश्य शक्ति तो कोई अलौकिक होगी। और वह शक्ति ही परमात्मा है। ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने का इससे अच्छा उदाहरण क्या हो सकता है कि कार्य को देखकर कारण का पता चला जाय। **'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्'**-प्रत्यक्ष में किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण ईश्वर की सर्वव्यापकता के बारे में द्रष्टव्य है।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, ६ मई १६१०, पृ० ४

जिसमें स्वामी जी की तर्क एवं चिन्तनशक्ति का पता चलता है। परमात्मा की सर्वव्यापकता पर सन्देह करते हुए नास्तिक उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार मछली समुद्र के अन्दर रहती है, परन्तु समुद्र मछली के अन्दर नहीं रहता ऐसे ही परमात्मा के अन्दर सब रहते हैं परन्तु परमात्मा सबके अन्दर नहीं रहता। नास्तिकों के इस तर्क को सुनकर सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति घबरा जायेगा। और यह भी मुमकिन हो सकता है कि वह हार भी मान ले। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जी ने एक छोटे से उदाहरण के द्वारा नास्तिकों के उपयुक्त तर्क का खण्डन ही नहीं किया अपितु अपनी बात भी सिद्ध कर दी। उनका कथन है–

"जिस प्रकार लोहार की भट्टी में अग्नि गलते हुए लोहे के अन्दर तथा बाहर भी व्यापक हो जाती है उसी प्रकार परमात्मा भी सबमें ओत-प्रोत है।"[1]

इन दो पंक्तियों में स्वामी जी ने गागर में सागर भर दिया है। एक तरफ तो परमात्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध कर दी और दूसरी तरफ 'ओत-प्रोत' शब्द के द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि ईश्वर ही इस संसार के प्रत्येक पदार्थ को अपाणिपाद होकर व्यवस्थित रूप से चला रहा है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी तथा अन्य नक्षत्रों को अपनी-अपनी परिधि में घुमाना उसी सत्ता के द्वारा मुमकिन है। क्योंकि संसार के पदार्थ तो जड़ हैं और जड़ वस्तु बिना किसी के चलाये चल नहीं सकती। इस प्रकार सर्वव्यापकता के साथ-साथ संचालन-व्यवस्था भी सिद्ध हो गयी। गोस्वामी तुलसीदास ने भी ब्रह्म को निराकार मान कर कहा है–

'बिनु पद चलइ, सुनइ बिनु काना।।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।[2]

जीव :

जीव का लक्षण स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस प्रकार दिया है उसमें साथ-साथ दो सत्ताओं का बोध होता है। प्रथम सत्ता तो जीव जो स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता और दूसरी सत्ता प्रकृति जो सामने नजर आती है।

"मन इन्द्रिय प्राणादि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरण करने वाला, स्पर्श करने वाला, श्रवण करने वाला, क्रियाओं के करने वाला एक चेतन सत्ता है।"[3]

इस जीवात्मा के लक्षण से स्वामी जी के अगाध ज्ञान एवं मौलिक चिन्तन की स्पष्ट

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ मई १९०८, पृ० ५

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, तुलसीदास, पृ० ८०

३. सद्धर्म प्रचारक, ६ मई १९०८, पृ० ५

झलक मिलती है। यहाँ पर जीव को केवल आँख, नाक, कान आदि का ही स्वामी नहीं माना बल्कि प्राण भी उसी के द्वारा संपादित होता है। जीव ही सारे शरीर को चलाता है। पहले देखे हुए का स्मरण भी जीव ही करता है ऐसा नहीं कि मस्तिष्क करता हो। हाँ, मस्तिष्क स्मरण का साधन जरूर हो सकता हैं। स्पर्श करने वाला भी जीव है। वैसे स्पर्श करना त्वचा का गुण है लेकिन त्वचा भी बिना जीव के अधूरी है। स्पर्श का ज्ञान त्वचा के माध्यम से जीव को होता है। कान सुनता नहीं है। कान के द्वारा सुना जाता है। और सुनने वाला ही जीव है। नाक का गुण सूँघना है। सूँघने का कार्य नाक के द्वारा सम्पन्न होता है। परन्तु सूँघता वास्तव में कोई और ही है। और वह है जीवात्मा। इच्छा भी जीव ही करता है। समस्त कार्यों के पीछे जिन्हें व्यक्ति करता है उन सबके पीछे जीव का हाथ होता है। बिना जीव के यह सारा शरीर निरर्थक शव मात्र हो जाता है। यहाँ पर जहाँ नित्य प्राणियों के चेतन तत्त्व की सिद्धि होती है, वहीं साथ-साथ प्रकृति की तरफ भी इशारा होता है। यह शरीर ही पाँच तत्त्वों से निर्मित प्रकृति है। इसे तीसरी सत्ता प्रकृति के नाम से जाना जा सकता है।

स्वामी जी का हृदय भावात्मकता से भरपूर था। संसार के प्रत्येक पदार्थ को देखकर मानो उनका हृदय संवेदना से भर जाता था। प्रकृति की हर वस्तु पर मुग्ध होकर वे आनन्द-विभोर हो उठते थे। ऐसी ही अनुभूति का वर्णन रात्रि के समय टिमटिमाते तारों की शोभा को देखकर वे उसी मधुर शब्दावली में उनका वर्णन कर उठते हैं–

"आह ! तारागण रात्रि के समय कैसे मनोहर मालूम होते हैं, मानो आकाश में फूल खिल रहे हों। और अपने बनाने वाले को बारम्बार बतलाते हुए दर्शकों से कुछ कह रहे हैं कि हमारी शोभा पर क्या मुग्ध होते हो, सोचो कि हम सबमें जिसने इतनी शोभा दी है, वह कैसा अनुपम मनोहर होगा। उसी के दर्शनों से आनन्द-राशि पाकर अपने जन्म सफल करो।"[1]

स्वामी जी की अनुभूति केवल तारों के समूह द्वारा मन के हरने तक ही सीमित नहीं है बल्कि उनकी अनुभूति उससे भी दूर चली जाती है। जहाँ आनन्द का भण्डार है जो कभी समाप्त नहीं होता। तारों से छिटकती चाँदनी तक के आनन्द तक सीमित मत रहो बल्कि जो इनके बनाने वाला है उस अरूप, रूप-छवि का भी चिन्तन करो कि वह कितना अनुपम एवं अनोखा होगा। उसके दर्शनों की आनन्द राशि में डुबकी

१. सद्धर्म प्रचारक, १० फरवरी, १६०६, पृ० ४

लगाओ। वहाँ आनन्द ही आनन्द है जो कभी समाप्त नहीं होता। जीव आनन्द से ही उत्पन्न होता है और आनन्द प्राप्ति के लिए ही जीवन भर प्रयत्न करता है, अन्त में आनन्द है जो कभी समाप्त नहीं होता। जीव आनन्द से ही उत्पन्न होता है और आनन्द-प्राप्ति के लिए ही जीवनभर प्रयत्न करता है, अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाता है, अतः सच्चा आनन्द सच्चिदानन्द ब्रह्म के चिन्तन में भी विद्यमान है। ऐसी भावनामयी भाषा का प्रयोग करके अपनी अनुभूति को सामान्य सहृदय की भी अनुभूति बना देना स्वामी जी का ही काम था। उनके उपर्युक्त कथन में उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा एवं कवित्वमयी भाषा भी अवलोकनीय है।

स्वामी जी की भावना को जानने का दूसरा सुन्दर उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है जिसमें वैदिक आदर्शों के पुनर्जीवित करने की बात कही है। जो व्यक्ति समाज का काम करते हैं वे निराश भी न हो उनको बताया हैं कि समाज भले ही अलग-थलग पड़ जाय। परन्तु परमात्मा उसकी सदा सहायता करते हैं।

"वैदिक आदर्शों के पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमात्मा स्वयं सहायता करते हैं।"[१]

जो व्यक्ति किसी भी रूप में अपनी सहायता करता है, भगवान सहायता अवश्य करते हैं। अंग्रेजी में कहावत है–"God help those who help themselves."

"शिक्षा का सार्वभौम आदर्श" नामक शीर्षक से 'प्रचारक' में लिखे गये लेख के द्वारा जहाँ अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ पर उनका शिष्यों के प्रति कैसा प्रेम था, इसकी भी झलक देखने को मिलती है।

"यदि इस समय किन्हीं विशेष व्यक्तियों के साथ मेरा अगाध प्रेम का सम्बन्ध है तो वह गुरुकुल के ब्रह्मचारी ही हैं।"[२]

अगाध शब्द यहाँ पर स्वामी जी का छात्रों के प्रति उत्कृष्ट एवं निर्मल प्रेम का सूचक है। जिस प्यार में स्वार्थ की कोई गन्ध न हो, जहाँ प्रेम केवल दिखावा मात्र न हो बल्कि सच्चा प्रेम हो, वही अगाध प्रेम है। गुरुजन का शिष्यों के प्रति प्राचीन काल में ऐसा ही शुद्ध प्रेम होता था, जिसे पुनः स्वामी जी ने मानो वर्तमान युग में अवतरित कर दिखाया था।उनके चारु चरित्र एवं कार्य व्यवहार पर प्रकाश डालने वाले अन्य उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किये जाते हैं।

"मुझे आश्चर्य है कि यदि महाशय कृष्णजी को गुरुकुल की वर्तमान गति में कुछ

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १६०८, पृ० ४

२. सद्धर्म प्रचारक, २४ जून, १६०८, पृ० ३

सन्देह है तो स्वामिनी सभा के मंत्री होते हुए, उन्होंने सभा द्वारा संशोधन करने के स्थान में समाचार-पत्र की शरण क्यों ली।"[१]

महाशय कृष्ण सभा मंत्री होने के नाते गुरुकुल में यदि कोई सुधार चाहते थे तो उन्हें उसका प्रस्ताव सभा में ही लाना चाहिए था। यह नियम की बात है, जो स्वामी जी ने उन्हें समझाई। संस्था की त्रुटि को अखबारों में प्रकाशित कराने का अर्थ है–संस्था की बदनामी करना जो स्वामी जी को सहय्य नहीं थी। उनके इस कथन में उनकी दृढ़ता, संस्था प्रेम और नियम-पालन का बोध होता है।

वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना उनके जीवन का ध्येय बन चुका था। वे वैदिक धर्म को पुनरुज्जीवित करना अपना प्रमुख लक्ष्य मानते थे। उन्होंने आर्य जनता को 'सद्धर्म प्रचारक' के द्वारा विश्वास दिलाते हुए कहा था–

"मैं महाशय कृष्ण तथा आर्य जनता को विश्वास दिलाता हूँ कि यदि वैदिक ध र्म के पुनरुज्जीवन का काम मेरी दृष्टि में गौण बन जायगा तो मैं इस गुरुकुल में एक पल भी ठहरना पाप समझूँगा।"[२]

उनके इस कथन से वैदिक धर्म के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा का भी बोध होता है। ऐसा ही एक उदाहरण और द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने आर्यसमाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया था। लेकिन इस कार्य के पीछे भी लोगों को उनके स्वार्थ की गन्ध दिखाई दी। तब उन्होंने लोगों की शंकाओं का जो उन पर इस तरह का आरोप लगाते थे उनके निराकरण हेतु 'प्रचारक' में "आर्यसमाज से मिलाप" शीर्षक लेख में अपनी पवित्रता और स्वार्थ से ऊपर उठकर काम करने की घोषणा की थी–

"मेरा प्रयत्न समाप्त हो गया, अब इस विषय में दखल नहीं दूँगा। कहीं-कहीं गद्दीनशीनों की ओर से इसलिए भ्रममूलक अपवाद फैलाये जा रहे थे, क्योंकि वे समझ बैठे थे कि मैं उनके इन्द्रासन को छीनने के लिए यह सब प्रयत्न कर रहा हूँ। यह उनकी भूल है। वह कौन-सा पद है, जिसे मैंने उत्सुक कार्यकर्ताओं की खातिर स्वयं नहीं त्याग दिया ? यह ठीक है कि यदि मेरी प्रार्थना पर एकता हो जाती, तो कुछ यश मुझे भी मिल जाता, परन्तु यदि महात्मा हंसराज जी भी अपने भाई श्री रामदेव जी से मिलकर समझौता कर लें, तो जो यश उन्हें मिले, उसे देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"[३]

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २ फरवरी १६१४, पृ० ५

२. वही

३. सद्धर्म प्रचारक, ७ नवम्बर १६२५, पृ० ७

इस प्रकार स्वामी जी ने पारस्परिक संघर्ष को समाप्त करने के लिए 'स्व' का त्याग कर दिया और शान्ति तथा सद्भाव की कामना की।

वर्णनात्मक शैली का एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है–

"इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम के नियमों में भी परिवर्तन करना पड़ेगा क्योंकि उस समय वन अधिक थे, अतः शाक, मूल, फलादि पुष्कल मिल सकते थे। अब वृत्त इसके विरुद्ध है और न ही मनुष्य उतने शक्तिमान् है इसलिए जहाँ उत्तम-उत्तम स्थानों पर आश्रम बनाए जाएँ उनमें एक आश्रम में अधिक से अधिक चालीस बनीं रहा करें। वह परस्पर शास्त्रों का विचार करें। वह सब 'बनी' ऐसे हों जिनके पुत्र, उनकी जीवन चर्य्यार्थ कुछ भेजते हों या जिन्होंने स्वयं कुछ प्रबन्ध कर लिया हो या पेंशनर हों अन्यथा दान के आश्रय पर जीवन व्यतीत करने वाले प्रतिभागियों से देश-धर्मोन्नति की आशा ऐसी है जैसे मृगतृष्णा से पिपासा-शान्ति, आकाश-कुसुम से गन्ध और वन्ध्या से पुत्र। इस समय में धर्म प्रचार वही कर सकते हैं जिनका आत्मा प्रतिग्रह से कलंकित न हो।"[1]

इसमें स्वामी जी ने आधुनिक काल के वानप्रस्थियों के लिए स्वावलम्बन का महत्त्व प्रतिपादित किया है, जो सर्वथा युगानुरूप एवं यथार्थ से परिपूर्ण है।

इस कथन में मृगतृष्णा, आकाश-कुसुम तथ वन्ध्या से पुत्रोत्पत्ति शब्द असम्भव अर्थ का द्योतन करते हैं। 'व्यंजना' से इन शब्दों का अर्थ है कि जैसे मृग रेगिस्तान के रेत में चमकते हुए कणों को देखकर उनमें पानी की प्रतीति करता है और प्यास मिटाने के लिए छलाँग लगा कर वहाँ जाता है, परन्तु उसे वहाँ पानी की प्राप्ति नहीं होती है, न हो सकती है, किन्तु फिर भी वह इसी प्रकार अन्य रेत के टीले में पानी की परिकल्पना कर वहाँ पहुँचता है और पानी न पाकर अन्त में प्राण त्याग देता है। इसी प्रकार आकाश में फूल खिलने की आशा लगाना, या बन्ध्या स्त्री से पुत्रोत्पत्ति की कामना करना व्यर्थ है। स्वामीजी ने इन व्यंजनात्मक शब्दों का प्रयोग कर अपने कथन को सबल बना दिया है। इस लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शब्द-संयोजन से उनकी भाषा में चार चाँद लग गये हैं।

२. विषय-वैशिष्टय :

व्यक्तित्व के अनन्तर शैली का दूसरा स्रोत विषय है। जिस प्रकार व्यक्तित्व के प्रभाव से शैली में व्यक्ति-वैशिष्ट्य का संचार होता है, वैसे ही विषय के अनुसार भी उसमें विशिष्टता का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि शैली में

१. सद्धर्म प्रचारक, ६ मार्च १६१०, पृ० १०

व्यक्ति-वैशिष्ट्य एवं विषयजन्य वैशिष्ट्य में से किसकी प्रधानता रहती है। क्या ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार की पोशाकें धारण करता है या वह विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है फिर भी सबमें उसका व्यक्ति-वैशिष्ट्य बना रहता है, वैसे ही एक लेखक विषय की प्रकृति के अनुसार विभिन्न शैलियों का प्रयोग करता है किन्तु उन सबमें उसकी वैयक्तिक विशिष्टता विद्यमान रहती है; अतः व्यक्ति-वैशिष्ट्य को विषयगत विशिष्टता का बाधक या विरोधी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः जहाँ एक ही व्यक्ति विभिन्न विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग करता है वहाँ एक ही विषय को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की शैलियों में प्रस्तुत करते हैं–**"एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्तिः"** अर्थात् एक ही बात को विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति-वैशिष्ट्य एवं विषयजन्य वैशिष्ट्य दोनों की ही सत्ता शैली में साथ-साथ समन्वित रूप में रहती है।

विभिन्न प्रकार के विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया जा सकता है। फिर विषय-वैशिष्ट्य के भी छह भेद हैं, यथा–

१. वर्णनात्मक शैली–विभिन्न पदार्थों एवं स्थूल दृश्यों के वर्णन में प्रायः इस शैली का प्रयोग होता है। इसमें विभिन्न पदार्थों का उल्लेख एवं परिचय मात्र होता है।

२. चित्रणात्मक शैली–सामान्यतः विभिन्न व्यक्तियों के बाह्य रूप-विधान में इस शैली का प्रयोग होता है।

३. विवेचनात्मक शैली–सामान्यतः विचारों के प्रतिपादन में इस शैली का प्रयोग होता है।

४. विवरणात्मक शैली–प्रायः घटनाओं के या तथ्यों के विवरण देने में इस शैली का प्रयोग होता है।

५. व्याख्यात्मक शैली–किसी परिस्थिति का वस्तुविशेष के विश्लेषण या आख्यान में व्याख्यात्मक शैली का उपयोग होता है।

६. भावात्मक शैली–इसमें भावों के अनुकूल उत्तेजना, चंचलता, प्रवाहपूर्णता या विक्षेप विद्यमान रहता है।

विवेचनात्मक शैली का एक उदाहरण स्वामी जी का दृष्टव्य है जो उन्होंने कर्मफल के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपने विचारों के प्रतिपादन में प्रस्तुत किया था–

"मैं यह स्वीकार नहीं करता कि कोई ऐसी गुह्य शक्ति है जिससे मनुष्य अपने

किये हुए कर्मों के फल से बच सके और जब कोई ऐसा कर्म करता है कि जिसका फल रोग होता है वह उस रोग से कभी बच नहीं सकता। जो मनुष्य आग को छूता है उसे जलने की पीड़ा सहनी पड़ेगी। जो मनुष्य पापानल में प्रवेश करता है उसे अवश्य जलना पड़ेगा।"[1]

कर्मफल के विवेचन में दो बातें स्वामी जी ने अपना मन्तव्य देते हुए स्पष्ट कर दी है, एक तो यह कि कोई भी व्यक्ति कर्मों को माफ नहीं कर सकती। और दूसरी बात यह है कि अच्छे अथवा बुरे कर्म का फल भी जरूर मिलेगा। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्मशुभाशुभम्'**। एक प्रकार से यह वैदिक धर्म के मन्तव्य का ही प्रतिपादन है। साथ-साथ इस विवेचन से उन लोगों के विचारों का भी खण्डन होता है जो यह मानते हैं कि दिनभर चाहे जो गलत काम करो और शाम को तौबा कर लो तो माफ कर दिये जाओगे। गंगा में स्नान करने से पाप धुल जायेंगे। ऐसा सोचने वालों की भ्रान्ति का खण्डन भी स्वामी जी के उक्त कथन से बड़े सुन्दर ढंग से हो जाता है।

आर्य समाज में मिलाप नामक शीर्षक से एक लेख लिखा, जिसमें आर्यसमाज के दो दल होने पर उन्हें एक कराने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु स्वामी जी इस कार्य में सफल न हो सके। आपने उसका वर्णन 'सद्धर्म प्रचारक' में चित्रणात्मक शैली में निम्न प्रकार से किया है–

"मेरा लेख बहरे कानों में पड़ा। अब स्थिति यह है कि दोनों दल मिलना नहीं चाहते। कोई तीसरा प्रयत्न उन्हें मिला नहीं सकता। दोनों में सिद्धान्त भेद भी है। तब उसी समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब दोनों दलों के नेताओं के अन्दर आर्य जनता के लिए दया का भाव उत्पन्न हो।"[2]

लेख का 'बहरे कानों में पड़ना' इस लक्ष्यार्थ को व्यंजित करता है कि जो किसी विषय पद ध्यान नहीं देते थे, उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। इसी प्रकार 'दया का भाव' पद में दया शब्द का संयोजन भी चमत्कार पूर्ण है। श्लेष के द्वारा दया का भाव स्वामी दयानन्द के विचारों की ओर भी इंगित करता है।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचारों को सामान्य जनता के अन्दर तक पहुँचाने के लिए स्वामी जी ने व्याख्यात्मक शैली का सहारा लिया। लोग स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को समझ कर उसे क्रियान्वित करें इसलिए उन्होंने विस्तृत रूप से

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १७ जुन, १६०८, पृ० ५

२. सद्धर्म प्रचारक, ७ नवम्बर १६२५, पृ० ५

स्त्री-शिक्षा पर लिखा। उनकी व्याख्यात्मक शैली का उदाहरण यहाँ पर द्रष्टव्य है –

"एक समय था जब हमारे देश में समस्त स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हुआ करती थीं और यही कारण था कि यह देश उस समय उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था। समस्त जातियाँ तथा सब देश वाले इसे अपना गुरु मानते थे। आजकल तो वर्तमान समय में इस देश का अधःपतन हुआ है। उसका एकमात्र कारण स्त्रियों का न पढ़ना ही है। अब केवल इनकी ही अधोगति से देश इतना गिर गया है कि इसका पुनः उच्च शिखर पर पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। जब तक भारत ललनाएँ पुनः पठन-पाठन की ओर ध्यान नहीं देवेंगी, तब तक भारत का उद्धार होना असंभव है। इस कारण स्त्री-शिक्षा प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। स्त्री-सुधार से जो देश का, समाज का, जाति का प्रत्युपकार होता है, उतना पुरुष मात्र से होना कठिन है, कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव है, क्योंकि जन्म से लेकर माता बालक को उस समय तक शिक्षा देती है जब तक वह बड़ा होकर बाहर गुरुकुलादि पवित्र स्थानों में जाकर विद्या-ग्रहण न कर सके।"[१]

उक्त कथन में स्त्री-जाति के प्रति स्वामी जी का आदरभाव व्यक्त हुआ, उन्होंने इस तथ्य को भी स्वीकार किया है कि **"माता निर्माता भवति"**–माता ही बालक की निर्माता है, अतः इस मातृशक्ति का शिक्षित होना परम आवश्यक है। यही सोच कर उन्होंने स्त्री-शिक्षा के लिए कन्या गुरुकुल देहरादून में खोला था।

चित्रणात्मक शैली का वर्णन उन्होंने "मेलों में प्रचार" नामक शीर्षक लेख में किया है।

"मेले सत्संग के स्थान पर कुसंग और ऐय्याशी के अड्डे बन गये हैं, उनके स्थान स्वास्थ्य और नव जीवन के बदले रोग, जीर्णता और गन्दगी के घर हो गये हैं। मेलों पर जाकर हमारे देश के भाई जिन कुरीतियों का परिचय देते हैं, अंग्रेज मिशनरी उन्हीं की फोटो से हमें देश-विदेश में बदनाम करते हैं। इस प्रकार हमारे मेले हमारी कीर्ति और प्रशंसा के बदले हमारी बदनामी और कलंक के केन्द्र बन रहे हैं।"[२]

मेला 'मिलन' शब्द से बनता है। पहले जमाने में किसी खास उद्देश्य को लेकर मेले भरते थे, जिनमें अनेक प्रान्तों के लोग सम्मिलित होते थे, जो परस्पर एक-दूसरे के आचार-विचार से, एक-दूसरे की भाषा से परिचित हो जाते थे और अनेकता में एकता की वृद्धि करते थे। परन्तु आजकल मेले-ठेले या नुमायश आदि में भौंडे प्रदर्शन

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर १९०९, पृ० ९, १२

२. श्रद्धा, ३ दिसम्बर १९२०, पृ० ३

होते हैं, जिनका कुप्रभाव लोगों पर, खास तौर से बालकों और नवयुवकों पर पड़ता है। नाच-गान होते हैं, महफिलें लगती हैं, खान-पान भी स्वच्छ नहीं मिलता है। इन सब बुराइयों का खुलासा कर स्वामी जी ने मेलों से उत्पन्न होने वाली बुराइयों का अच्छा चित्रण उक्त पंक्तियों में किया है।

३. भाषा तत्त्व :

साहित्य की शैली का तीसरा स्रोत 'भाषा' है। जहाँ शेष स्रोतों का शैली से अप्रत्यक्ष रुप में सम्बन्ध रहता है वहाँ भाषा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं स्थायी होता है। भाषा के दो रूप हैं–

१. स्वभावोक्ति और २. अतिशयोक्ति।

१. स्वभावोक्ति : यदि वर्ण्य विषय को यथार्थ रूप में तथा उसके गुण-धर्मों को नैसिर्गिक या स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया जाय तो वह **स्वभावोक्ति** होगी।

२. अतिशयोक्ति : यदि वर्ण्य-विषय के रूप को अयथार्थ एवं उसके गुण-धर्मों को अनैसर्गिक या अलौकिक रूप में बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाय तो वह अतिश्योक्ति होगी।

भाषा-शैली में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद आदि गुणों के साथ-साथ अलंकार, छन्द आदि का भी योगदान रहता है। भाषा हर्ष एवं शोक की अभिव्यंजना के समय लयपूर्ण हो जाती है तो प्रेम एवं वात्सल्य के समय अलंकार युक्त हो जाती है। मुहावरे आदि का प्रयोग भी भाषा में चार चाँद लगा देता है।

स्वामी जी की भाषा उपर्युक्त तत्वों से युक्त है। स्वामी जी ने अपने कथन को सुरुचिपूर्ण बनाने के हेतु मुख्य रूप से 'रूपक' अलंकार का प्रयोग किया है।कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

१. "श्रद्धा को सर्वसाधारण के सामने स्वच्छ अवस्था में लाना और उसकी अन्धाकार बेधक किरणों से सचाई के मुख पर से अविद्या के पर्दे को हटाना ही इस साप्ताहिक बटोही का उद्देश्य होगा।"[१]

यहाँ उपमान और उपमेय में अभेद सादृश्य है, अतः रूपक अलंकार है।

२. "मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिए इस 'श्रद्धा के साप्ताहिक दूत' को उसी लिपि के द्वारा यात्रा पर भेजा करूँगा।"[२]

---

१. श्रद्धा, २३ अप्रैल, १६२०, पृ० ३

२. वही

यहाँ 'श्रद्धा के साप्ताहिक दूत' में श्रद्धा उपमेय और दूत उपमान हैं, दोनों में अभेद सादृश्य है।

३.''ब्रह्मचर्याश्रम का पुनरुद्धार को ही सर्व विषयों, समाचारों और लेखों का प्रधान लक्ष्य रखा है। जिस एक की प्राप्ति से सब प्राप्त हो सकते हैं वह सबसे बड़ा 'ब्रह्म' ही है। उसमें विचरने से जीवन का उद्देश्य पूरा हो सकता है। यही **वेद रूपी ब्रह्म** का आदेश है। इसलिए विद्यार्थी को, गृहस्थ को, वनी को, संन्यासी को, राजा को, प्रजा को, गुरु और शिष्य को सबको ही ब्रह्मचारी होना चाहिए।''[1]

यहाँ 'वेद रूपी ब्रह्म' पद में रूपक अलंकार है।

४.''वे लोग जो किसी अन्य धर्म के अनुयायियों के दिलों में से प्रथम स्थित धार्मिक विचारों को उखाड़कर उनकी जगह नये धार्मिक विचारों का वृक्ष बोना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि वे पहले पौधे को ऐसे उखेडें जिससे भूमि, जिस पर वह उगा हुआ है, गढ्ढों से युक्त न हो जाय। धीरे-धीरे, शान्ति से, उपाय से, उस भूमि में से प्रथम पौधे को उखाड़कर उनकी जगह नया वृक्ष सँभालकर लगा दिया जावे तो निसन्देह वह बड़ी रौनक के साथ हरा-भरा हो जायेगा।[2]

यहाँ भी रूपक की छटा दर्शनीय है।

हर्ष के समय **लयात्मक भाषा** का नमूना द्रष्टव्य है–

''अतः हे मेरे प्यारे ! भारतवासियों ! उठो ! चेतो ! आँखें खोलो बहुत सो चुके, निद्रा सुख को त्याग कर देखो कि इनके पढ़ाने में क्या-क्या लाभ है और समझ कर अपनी-अपनी कन्याओं तथा स्त्रियों को पढ़ाओ एवं पढ़ने की आज्ञा प्रदान करो जिससे आपका डूबा हुआ भारतवर्ष फिर उसी उन्नति के शिखर पर पहुँच जावे।''[3]

लयात्मक गद्य को **'वृत्तगन्धि गद्य'** कहा जाता है, इसमें छन्द की लय की गन्ध विद्यमान रहती है। 'आँखें खोलो, बहुत सो चुके' इसमें १६ मात्रा हैं और यह 'ताटंक' की पंक्ति का पूर्वपद है।अतः इसमें ताटंक छन्द की लय है।

दूसरा उदाहरण द्रष्टव्य है–

'आस्तिक पुरुष एक-एक फूल की पंखुड़ी और एक-एक पत्ते को देखकर उसके कर्ता की रचना पर मोहित हो जाता है और कर्ता का यशगान करने लगता है। आनन्द से उसका हृदय पूर जाता है और बारम्बार मग्न होता रहता है।परन्तु वह

---

१. श्रद्धा, २३ अप्रैल, १६२०, पृ० ३

२. सद्धर्म प्रचारक, ३१ मई १६११, पृ० ६

३. सद्धर्म प्रचारक, २७ अक्टूबर १६०६, पृ० १०

मनुष्यात्मा जिसने इस भेद को न समझा, सन्देह-सागर में डूबता और उतराता है। वास्तविक आनन्द उसके हृदय से दूर रहता और इस स्वर्ग भूमि को नरक भूमि बतलाता और चारों ओर दुःख ही दुःख देखता है।"[1]

इस अवतरण में–'आनन्द से उसका हृदय है पूर जाता, और बारम्बार होता मग्न रहता' इस पद में 'हरिगीतिका' और गीतिका छन्द की लय विद्यमान है।

उपमा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"ये सब लोक केतुओं (पताकाओं) की तरह उस ज्ञान प्रकाशमय परमात्मा देव की सूचना दे रहे हैं जिससे कि वेद निकला है और जिसने कि इस ब्रह्माण्ड रूप मनोहर दृश्य को प्रकाशित किया है।[2]

यहाँ 'ये सब लोक केतुओं की तरह' पद में उपमा अलंकार है। 'लोक' उपमेय 'केतु' उपमान है, अर्थात् लोक को केतु (पताका) की उपमा दी गई है।

हास्य रस में बात करने का ढंग स्वामी जी का निराला ही था। सरकार के पक्षपात पूर्ण रवैये को उन्होंने बड़े सुन्दर उदाहरण में प्रस्तुत किया है।

"एक छोटी-सी हँसी की बात है–एक गोरे लैफ्टीनेन्ट की तमाखू पीने की पाइप चुराई गई। अपराधी को ४ वर्ष सख्त सजा दी गई। हाई कोर्ट में अपील हुई वहाँ से केवल २ वर्ष की सजा रह गई। किसी हिन्दुस्तानी का हुक्का चुराया जाता तो शायद तीन महीने से ज्यादा कैद न होती।"[3]

स्वामी जी के द्वारा लिखित "कर्मवीर कहाँ से उत्पन्न होंगे?" नामक शीर्षक से बलिदानियों एवं वीरों के लिए लिखे गये लेख में ओजस्वी भाषा का नमूना देखते बनता है–

'जो पत्ते के खड़कने से काँपने लगते थे वे तोप के मुँह में निर्भय होकर जाने के लिए तैयार हैं, यह परिवर्तन बड़ा है कौन इससे इनकार कर सकता है? इस परिवर्तन को देखकर शासक जाति की आँखे खुल रही हैं।"[4]

इसमें द्वित्व और टवर्ग का प्रयोग ओजगुण को विवर्धित कर रहा है।

भारतीयों के अन्दर स्वाभिमान की लहर दौड़ने लगी है। उनके अन्दर मानो हर्ष का पुनः संचार हो गया है। इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वामी जी का लयात्मक उदाहरण देखते ही बनता है।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ मई, १९०८, पृ० ३

२. सद्धर्म प्रचारक, ३ जून, १९०८, पृ० ६

३. श्रद्धा, ३० जौलाई, १९२०, पृ० ३

४. वही

"भारतवासी अब अपने को गिरा हुआ नहीं समझते, अविद्या से ग्रस्त नहीं समझते अयोग्य नहीं समझते समझते यह है कि आज वे स्वराज्य प्राप्त करने के योग्य हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि वे समझते हैं कि उनके अन्दर मनुष्यों पर राज्य करने की शक्ति आ गई है।"[1]

"अयोग्य न समझते, समझते यह हैं कि व आज वे स्वराज्य प्राप्त करने के योग्य हैं।" यहाँ केवल 'नहीं' के स्थान पर 'न' कर देने से ही यह पंक्ति घनाक्षरी छन्द की बन जाती है।

४. पाठक और शैली :

शैली के चार स्रोतों में से एक श्रोता या पाठक है। जब भी हम कुछ बोलते या लिखते हैं तो वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पाठक की काल्पनिक सत्ता हमारे मन में प्रायः विद्यमान रहती है। वैसे कुछ विशेष परिस्थितियों में हम स्वगत भाषण एवं आत्माभिव्यक्ति भी करते हैं किन्तु वहाँ भी श्रोता के प्रतिनिधि के रूप में हमारे अपने व्यक्तित्व का ही एक अंग सदा विद्यमान रहता है जो हमारे द्वारा उच्चारण किये गये या लिखे गये अंश पर श्रोता या पाठक की दृष्टि से प्रत्यवलोकन करता रहता है। लेखक जब अपनी लिखी हुई पंक्तियों को पुनः देखता है तो वहाँ उसकी दृष्टि में उससे सम्बन्धित पाठक की दृष्टि भी विद्यमान रहती है—या यों कहिए कि वह अपने पाठकों की दृष्टि को ध्यान में रखता हुआ ही अपनी रचना का प्रत्यवलोकन करता है। लेखक का जिस वर्ग के साथ सम्बन्ध होता है उस वर्ग का थोड़ा-बहुत प्रभाव उसकी शैली पर अवश्य पड़ता है।

कुछ पाठक सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति को पसन्द करते हैं तो कुछ शब्द-क्रीड़ा, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि को। पाठकों का स्तर भी शैली को प्रभावित करता है। जब बच्चों के लिए लिखा जाता है तो शैली में सरलता, स्पष्टता, रोचकता एवं व्याख्यात्मकता आदि गुणों का समावेश हो जाता है। यदि उच्च स्तर के लिए लिखा जाता है तो उसमें गम्भीर एवं ठोसपन आ जाता है। लेखक का लक्ष्य भी शैली को प्रभावित करता है। यदि लेखक विद्वत्ता प्रदर्शन करना चाहता है तो उसमें शुष्कता, जटिलता एवं दुरुहता होगी। यदि अपने मत का प्रचार करना चाहता है तो उसमें विचारोत्तेजकता, तार्किकता एवं व्यंग्यात्मकता होगी। यदि विशुद्ध आनन्द प्राप्त कराना चाहता है तो रसात्मकता या सरसता का प्राधान्य होगा।

विशुद्ध आनन्द प्राप्त कराना यदि साहित्यकार का दृष्टिकोण है तो वह रसात्मकता

१. श्रद्धा, ३० जौलाई, १९२०, पृ० ३

या सरसता के साथ कोई बात करता है। जब स्वामी जी आत्मा-परमात्मा के मिलन का सुन्दर उदाहरण देकर बताते हैं कि जिस प्रकार सर्दी से ठिठुरता व्यक्ति अग्नि के सान्निध्य में आने पर सुख का अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा के समीप आने पर जीव को सुख की अनुभूति होती है। आनन्द की तरह कोमल, कर्णप्रियता, सुखकारी शब्दों का प्रयोग जो स्वामी जी के द्वारा किया गया उसका उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है-

"भाग्यशाली वह आत्मा है जो प्रकृति का ध्यान छोड़कर शरीर की सुध-बुध बिसारकर अपने में व्यापक उस परम चैतन्य ब्रह्म का दर्शन करता है। प्यारे आत्मा बन्धुजन। आओ मिलकर उन प्रभु का यश गाएँ, उनका उपकार स्मरण करते हुए गद्गद वाणी से उनका नामोच्चारण करें, उन्हीं के ध्यान में लग जाएँ जिसमें प्रभु हमें अपने प्रेम में विह्वल देख परम करुणा से अपने ज्ञानमय प्रकाश का दर्शन दें।"[1]

पाठकों के अनुरूप भाषाशैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। यह लेख "गुरुकुल के साथ सच्चे प्रेम का प्रमाण दीजिए" नामक शीर्षक से 'सद्धर्म प्रचारक' में गुरुकुल के पदाधिकारियों के लिए लिखा था, इसलिए भाषा में बड़ा भारी व्यंग्यार्थ निहित था।

"जो माता शरद ऋतु में बिछौना गीला हो जाने पर बच्चे का रोना सुन उसके मुँह, नाक, कान को कपड़ों से बन्द करके उसको छाती से जकड़कर उसका गला घोंट देती है, उसे भी तो बच्चे से अगाध प्रेम होता है, किन्तु उसका प्रेम बच्चे में जीवन डालने के स्थान में उसका काम ही तमाम कर देता है।"[2]

'काम तमाम करना' मुहावरा है, जिसका अर्थ हैं-नष्ट करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी की शैली व्यक्तिवैशिष्ट्य, विषयवैशिष्ट्य, भाषावैशिष्ट्य एवं प्रयोजन-वैशिष्ट्य से युक्त है।

'सद्धर्म प्रचारक' एवं 'श्रद्धा' पत्रिका में प्रकाशित स्वामी जी के लेखों के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि उनकी भाषा भावों की अनुगामिनी, अलंकृत, मुहावरेदार, गुणमयी और परिनिष्ठित है और शैली उनके व्यक्तित्व की बोधक है।

***

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १० जून, १९०८, पृ० ४

२. सद्धर्म प्रचारक, १० जून, १९११, पृ० ५

पञ्चम अध्याय

गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली का स्वरूप तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी के शिक्षा-विषयक लेख

शिक्षा के द्वारा शरीर, मन तथा आत्मा का विकास होता है। शिक्षा, भौतिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं बल्कि आत्मचिन्तन का भी लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षा जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। शिक्षित वह है जो माता-पिता तथा आचार्य से गहराई के साथ जुड़ा है। माता-पिता के संस्कारों से सन्तान के प्रारम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके संस्कारों को जाग्रत करता है। संस्कारों का क्रमबद्ध निर्माण ही बालक की शिक्षा है। इसलिए सुखी और परिष्कृत जीवन बिताने के लिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सोलह संस्कारों का विधान किया है।

माता-पिता जब सन्तानो को महान् बनाने का संकल्प करते हैं तब इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्हें भी महान् बनना पड़ता है। गर्भावस्था में सन्तान के उचित भरण-पोषण के लिए उन्हें भी संयमित जीवन जीना पड़ता है। यदि माता-पिता सदाचारी, धार्मिक तथा स्वस्थ नहीं हैं तो वे अपने शिशु का शारीरिक और मानसिक विकास नहीं कर सकते।

स्वामी जी के शिक्षा-विषयक लेखों पर विचार करने से पूर्व गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली, गुरु और शिष्य के विषय में जान लेना आवश्यक है।

गुरु :

'गृ शब्दे' इस धातु से **'गुरु'** शब्द बना है। **'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः"** जो सत्य धर्म प्रतिपादक सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता है; जो सत्य को ग्रहण और असत्य को छुड़ावे वह 'गुरु' कहलाता है। वैदिक विचारधाराओं में शिक्षक को 'गुरु' के अलावा आचार्य भी कहा जाता है। आचार्य का अर्थ है–**'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः'**–इतना ही नहीं कि ब्रह्मचारी को जबानी तौर पर सदाचार की शिक्षा दे, अपितु–**'ग्राहयति'**–शिष्य के जीवन में सदाचार को ढाल दे, उसे ऐसी परिस्थिति में रखे कि शिष्य सदाचार को अपने आप ग्रहण कर ले। स्वामी दयानन्द सरस्वती उस सन्तान को बहुत भाग्यशाली मानते हैं जिसे तीन उत्तम शिक्षक, माता, पिता तथा आचार्य मिलें हों–**'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**।

१. सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० १४

माँ को तो सबसे बड़ा गुरु माना है–"जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता, इसीलिए (मातृमान्) अर्थात् **'प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्'**। धन्य है वह माता कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो जब तक सुशीलता का उपेदश करे।"[1]

गुरुकुल :

गुरुकुल का अर्थ है–गुरु का कुल। बच्चे का अपने माता-पिता के छोटे कुल से गुरु के अनेक शिष्यों वाले कुल में जाना, गुरुकुल में प्रवेश कहलाता है। घर में माता-पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दे पाते अतः उसे घर के बाहर किसी दूसरे के पास भेजना पड़ता है। परन्तु घर से बाहर भेज देने पर उसे घर का-सा, माता-पिता का-सा प्रेम नहीं मिल पाता। उसका समुचित-विकास नहीं हो पाता। इस समस्या के निराकरण के लिए ही वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने 'गुरुकुल पद्धति' का निर्माण किया था। आज के शिक्षा विज्ञों की खोज यह है कि बच्चे को समाज से तोड़ कर नहीं रखना चाहिए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की खोज यह थी कि बच्चों को न तो परिवार से तोड़कर रखना चाहिए और न ही समाज से। बच्चे का विकास कुल में होना चाहिए। पहले माता-पिता के 'कुल' में, फिर गुरु के 'कुल' में, फिर समाज के 'कुल' में। मूल-सिद्धान्त 'कुल' का है, 'परिवार' का है। 'कुल' का विचार इतना क्रान्तिकारी है कि अगर शिक्षा के क्षेत्र में यह चरितार्थ हो जाय, तो यह शिक्षा को आमूलचूल बदल सकता है। अगर समाज के क्षेत्र में चरितार्थ हो जाय, तो समाज को एक बिल्कुल नई दिशाा दे सकता है।

शिक्षा :

शिक्षा का अर्थ है सीखना। **'शिक्ष् विद्योपदेन'** धातु से 'अङ' प्रत्यय से 'टाप्' प्रत्यय होकर 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है।

सभी जीव स्वभाव से ही कुछ सीखते रहते हैं। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, तैरना-उड़ना आदि क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं। व्यवहार जगत् के निमित्त भाषा और आचार आदि भी सभी अपने-अपने समाज से सीख लेते हैं, किन्तु सामान्य जीवन को विशिष्ट बनाने के लिए विशिष्ट जिज्ञासा की पूर्ति की प्रयत्नशीलता वस्तुतः शिक्षा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार–"शिक्षा वह है जिससे विद्या, सभ्यता,

१. सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० २०

धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्या आदि दोष छूटें।"[१]

सुकरात के अनुसार–शिक्षा से तात्पर्य उन सर्वमान्य विचारों को प्रकाश में लाना है जो मानव के मस्तिष्क में स्वभावतः निहित होते हैं।

शिष्य :

शिष्य उसको कहते हैं जो सत्य शिक्षा और विद्या के ग्रहण करने के योग्य हो, धर्मात्मा हो, विद्याग्रहण की इच्छा रखने वाला हो तथा आचार्य को प्रिय हो।

गुरुकुलीय शिक्षा की प्राचीनता और उसका स्वरूप

मनुष्य की आयु को लगभग सौ वर्ष मानकर उसे चार भागों (आश्रम) में विभाजित किया गया है। ये चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। प्रथम ब्रह्मचर्य की अवस्था में पच्चीस वर्ष तक व्यक्ति को ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करना होता है। इसी उद्देश्य से वह अपने परिवार के 'कुल' को छोड़ कर गुरु के 'कुल' में जाता है। प्राचीन काल में ऐसे शिक्षण संस्थानों का उल्लेख मिलता है जो गुरुकुल थे और जिनका निर्माण नगरों से दूर होता था। सामवेद में कहा गया है–

'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥'[२]

अर्थात् पर्वतों की गुफाओं में और नदियों के संगम पर विशेष कर्म (योगाभ्यास) करने से मनुष्य ज्ञानी बनता है।

प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा आदि छह शिष्य पिप्पलाद के आश्रम में जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। **तैत्तिरीयोपनिषद्** में वरुण से भृगु, छान्दोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत से सत्यकाम तथा **बृहदारण्यक** उपनिषद् में प्रजापति से इन्द्र तथा विरोचन आश्रम में ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। **रामायण** काल में वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्य के आश्रम गुरुकुल ही हैं। भारद्वाज का आश्रम भी गुरुकुल है। बाल्मीकि रामायण के अरण्यक काण्ड में अगस्त्य के विद्यापीठ की बड़ी प्रशंसा वर्णित है। यहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि भी अगस्त्य से शिक्षा ग्रहण करने आते थे–

"अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते ॥"[३]

भोग विलास के वातावरण से दूर रह कर ही बालक आत्मनिर्भर और

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० ६

२. सामवेद २/१४३

३. बाल्मीकि रामायण (अरण्य काण्ड) शिव शर्मा वशिष्ठ, पृ० ३०२

आत्मसंयमी हो सकता है। आज जिस 'प्रसार शिक्षा' या क्षेत्र-कार्य की प्रणाली को शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाने पर बल दिया जा रहा है वह प्राचीन 'आश्रम प्रणाली' का अनिवार्य अंग थी, क्योंकि आचार्यों के आश्रम या गुरुकुल नगरों से दूर वनों में होते थे, अतः प्रत्येक बालक को वहाँ श्रम की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। राजा और रंक के बालक बिना किसी भेदभाव के वहाँ परिश्रम कर जीवन व्यतीत करना सीखते थे।

छान्दोग्योपनिषद् में हारिद्रुमत मुनि ने जाबाल सत्यकाम को शिक्षा देने से पूर्व क्षेत्र सेवा का कार्य ही सौंपा था, क्योंकि वह युग पशु-पालन और कृषि जीविका का था। उसका उपनयन-संस्कार करके मुनि ने कमजोर चार सौ गायें छाँट कर कहा-"सौम्य ! इनकी सेवा करो ! जब तक ये एक हजार न हो जायें तब तक अपनी शिक्षा अधूरी समझो। सत्यकाम ने कहा-"जब तक ये गायें एक हजार नहीं हो जायेंगी तब तक मैं इन्हें वापस लेकर नहीं आऊँगा।" वह वर्षों जंगल में रहा और जब वे गायें एक हजार हो गयीं तब लौटा-

'स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रं सम्पेदु :।"

इस प्रकार गुरुकुल में तप, त्याग तथा संयम की शिक्षा दी जाती है। गुरुकुल में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वह अपने सम्पर्क में आये छात्र को उसी ममता से रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु को रखती है।

गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली में हम परम्परागत शिक्षा ग्रहण करते हैं। गुरुकुलों की स्थापना का उद्देश्य ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन कराना था। गुरुकुल काँगड़ी की भी स्थापना इसी उद्देश्य को लेकर हुई है। अतः इसमें आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन पर विशेष बल दिया जाता है। वेद[२], ब्राह्मण[३], आरण्यक ग्रन्थ[४], उपनिषद्[५], कल्पसूत्र[६], वेदांग[७] आदि ग्रन्थों को आर्षग्रन्थों की श्रेणी में रखा गया है।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्

२. वेद चार हैं- १. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद।

३. 'ब्राह्मण' शब्द का मूल अर्थ यज्ञ-विज्ञान के संदिग्ध स्थलों की व्याख्या है। अतः पुरोहितों द्वारा किये गए यज्ञों में प्रयुक्त संहितानुमोदित विधियों के व्याख्यानों के संकलन का नाम ही 'ब्राह्मण' है। ब्राह्मणग्रन्थ हैं-ऋग्वेद के ऐतरेय, कौशीतकी या शांखायन; शुक्ल यजुर्वेद का शतपथः कृष्ण यजुर्वेद के कठ, मैत्रायणी, तैत्तिरीय; सामवेद के ताण्ड्य या पंचविंश, षड्विंश, छान्दोग्य; अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण।

४. ब्राह्मण ग्रन्थों या उनके परिशिष्टों में 'आरण्यक' संकलित हुए हैं। इनका अध्ययन अरण्यों के एकान्तवासी वानप्रस्थियों द्वारा ही होने से इनका नाम 'आरण्यक' पड़ा है। निरंतर,

इन आर्षग्रन्थों में से कुछ भाग छह भारतीय दर्शन[८] तथा स्मृति ग्रन्थों[९] से कुछ भाग गुरुकुल कांगड़ी के पाठ्यक्रम में लगा रखा था। सर्वाधिक ध्यान संस्कृत भाषा सीखने और व्याकरण पढ़ने पर दिया जाता था।

प्रथम कक्षा से दशम कक्षा तक के सभी छात्रों के एक सप्ताह में कुल मिलाकर ३९९ चक्र होते थे। इनमें ४७ घण्टे आर्यभाषा (हिन्दी) के लिए, ३०६ घण्टे संस्कृत और ४६ घण्टे अंग्रेजी के लिए निर्धारित थे। प्रारम्भिक कक्षाओं में संस्कृत भाषा और व्याकरण के साथ मातृभाषा हिन्दी सीखने पर अधिक बल दिया जाता था। षष्ठ कक्षा तक अंग्रेजी बिल्कुल नहीं पढ़ायी जाती थी। सप्तम कक्षा से अंग्रेजी पढ़ाना प्रारम्भ किया जाता था। भाषा सीखने पर अधिक बल दिया जाता था। बाद की कक्षाओं में हिन्दी की पढ़ाई लगभग बन्द कर दी जाती थी। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर अन्तिम कक्षाओं तक संस्कृत भाषा और व्याकरण पर विशेष बल दिया जाता था। संस्कृत व्याकरण को संस्कृत साहित्य की कुंजी बताते हुए स्वामी जी लिखते हैं–

"अष्टाध्यायी संस्कृत लिटरेचर की कुंजी मानी जाती है। वह इसी बिना पर कि उसके कंठ होने के पश्चात् तमाम आर्ष ग्रन्थों की छानबीन एक साधारण कार्य रह जाता है।"[१०]

वेद, वेदांग उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थ आध्यात्मिक ज्ञान के अथाह सागर होने के साथ-साथ भौतिक ज्ञान-विज्ञान के भी मूल स्रोत हैं। संस्कृत पढ़कर विद्यार्थी में वह सामर्थ्य आ जाती है जिससे वह वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य की पुस्तकों को समुचित रूप से समझ सके, उनका अनुशीलन कर सके। जब वैदिक साहित्य को समझने की अच्छी सामर्थ्य होगी तथा ज्ञान-विज्ञान का दोहन किया जा सकता है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' से 'ऐतरेय आरण्यक' 'कौशीतकी ब्राह्मण' से 'कौशीतकी आरण्यक', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से 'तैत्तिरीय आरण्यक', 'शतपथ ब्राह्मण' से 'शतपथ आरण्यक' तथा 'ताण्ड्य ब्राह्मण' से 'छान्दोग्य उपनिषद्' सम्बन्धित है।

५. महर्षि दयानन्द ने ग्यारह उपनिषदों को प्रामाणिक माना है–१. ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. ऐतरेय, ८. छान्दोग्य, ९. तैत्तिरीय, १०. बृहदारण्यक, ११. श्वेताश्वेतर।

६. सूत्रग्रन्थों के चार विभाग हैं–१. श्रौतसूत्र, २. गृह्यसूत्र, ३. धर्मसूत्र, ४. शुल्वसूत्र।

७. वेदांग–१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. ज्योतिष, ५. छन्द, ६. निरुक्त।

८. १. सांख्य, २. योग, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५. मीमांसा, ६. वेदान्त।

९. वेदवेत्ता ऋषि वेदों के आधार पर जो धर्मग्रन्थ रचते हैं उनका नाम ही स्मृति रखा जाता है। यथा–मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि।–द्रष्टव्य–सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त १९०८, पृ०४

१०. सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त १९०८, पृ० ८

अथर्ववेद में शिल्प विद्या आदि भौतिक विज्ञान की अधिकता है । इसको सीखकर मनुष्य को लाभ उठाना चाहिए । स्वामी दयानन्द जी लिखते हैं–

"अथर्ववेद की जिसको शिल्प विद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुण विज्ञान, क्रिया-कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथिवी से लेके आकाशपर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ, अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिष शास्त्र, सूर्य सिद्धान्तादि जिसमें बीज गणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, इसको यथावत् सीखें । तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें ।"[१]

वैदिक जगत् में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन प्रभूत मात्रा में होता था । इसलिए उस समय सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक आदि सभी तरह से समाज समृद्ध था । मध्यकाल के बाद वैदिक साहिय का पठन-पाठन लगभग पूर्णरूपेण बन्द हो गया । आजकल भी इस तरफ ध्यान नहीं दिया जाता । वैदिक आदर्श एवं साहित्य की पुनः प्रतिष्ठा करने का आह्वान करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी लिखते हैं

"वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमात्मा स्वयं सहायता करते हैं ।"[२]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देशोन्नति को ध्यान में रखते हुए भारत में पुनः गुरुकुल शिक्षापद्धति को अपनाने पर बल दिया । उनकी इस उदात्त भावना के अनुरूप आर्यसमाज के श्रेष्ठ कवि **डॉ० सत्यव्रत शर्मा, 'अजेय'** ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के गौरव को इस प्रकार अंकित किया है–

पश्चिम के तम के प्रसार मिटाने हेतु,
पूर्व की उषा की यह अभिनव लाली है ।
अक्ल पर पड़ गया जिनकी हो ताला, उसे–
खोलने के लिए यह अनुपम ताली है ।।
देती है पदार्थ चारों, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,
वेद विद्या रूपी कल्पवृक्ष की ये डाली है ।
भारत को भा-रत बनाने में समर्थ नित्य,
'सत्यव्रत' गुरुकुल शिक्षा की प्रणाली है ।।[३]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० ४७
२. सद्धर्म प्रकाशक, २२ जुलाई, १९०८, पृ० ४
३. दयानन्द शतक, डॉ० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय', पृ० ३५

ऋषि द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली एवं उसकी महत्ता को ध्यान में रखते हुए ही स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। यहाँ आर्ष ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक विषयों का भी अध्ययन कराया जाता है। स्वामी जी ने 'गुरुकुल पाठ प्रणाली' नामक शीर्षक से 'सद्धर्म प्रचारक' में कई लेख लिखे हैं। इन लेखों का उद्देश्य यह नहीं मालूम पड़ता है कि ये लेख सामान्यतया गुरुकुल पाठ प्रणाली की जानकारी के लिए लिखे गये, अपितु अनेक लोगों ने गुरुकुल कांगड़ी पर कई प्रकार के आक्षेप किए थे, उन आक्षेपों के समाधान के लिए ये लेख लिखे गये। इसलिए इन लेखों से स्पष्ट रूप से शिक्षा विषय का पता लगाना कठिन-सा मालूम पड़ता है। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि गुरुकुल में शिक्षा ऋषि दयानन्द की पाठ प्रणाली के अनुसार दी जाती थी। गुरुकुल में पूर्व काल से ही आर्ष ग्रन्थों के अलावा आधुनिक विषयों का भी अध्ययन कराया जाता था।

गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति पर आक्षेपों का निराकरण

आक्षेपकर्ताओं ने आधुनिक विषयों–अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, साइंस आदि को ऋषि दयानन्द की बतायी पाठविधि के विरुद्ध बताकर गुरुकुल में इन विषयो के अध्ययन का विरोध किया है। परन्तु स्वामी जी ने ऋषि का ही मन्तव्य देकर यह सिद्ध कर दिया कि इन विषयों का पढ़ाया जाना उचित है।

अंग्रेजी पढ़ाना :

दयानन्द सरस्वती का विचार था कि अधिक से अधिक भाषाओं का ज्ञान होना उत्तम बात है। इससे अपने आर्ष ग्रन्थों को दूसरों तक पहुँचाने में सुविधा होगी तथा दूसरों से हम ज्ञान, विज्ञान ग्रहण कर सकेंगे। वे कहते हैं–

"जब पाँच-पाँच वर्ष में लड़का-लड़की हो तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"[१]

चूँकि अंग्रेजी भारत की राजभाषा है, अतः राजभाषा को जानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु अंग्रेजी पर अधिक बल नहीं दिया जाता। अपितु प्रारम्भिक कक्षाओं में संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। स्वामी जी के शब्दों में "गुरुकुल में सबसे पहले तो प्रथम छह वर्षों तक इंगलिश का नाम भी नहीं लिया जाता और संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पर ही बल दिया जाता है।"[२]

इससे ज्ञात होता है कि गुरुकुल में अंग्रेजी का पठन-पाठन था जो दयानन्द की

---

१. दयानन्द सरस्वती, संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १६०८, पृ० ६

२. सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १६०८, पृ० ७

पाठ प्रणाली के अनुरूप है।

इतिहास और भूगोल पढ़ाना :

कुछ लोगों ने आक्षेप किया कि इतिहास और भूगोल का अध्ययन भी ऋषि प्रणाली के अनुकूल नहीं है। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जी कहते हैं कि दयानन्द सरस्वती इतिहास का ज्ञान कराना आवश्यक समझते थे–**"इतिहासो नाम वृत्तम्"**–पुराने वृत्त का वर्णन करना इतिहास कहलाता है। इतिहास सृष्टि उत्पत्ति से लेकर आज के समय तक चला आता है।"[1]

स्वामी दयानन्द इतिहास ज्ञान के पक्ष में थे। साथ ही उनका कहना था कि विदेशियों ने हमारे इतिहास में बहुत-सी मिलावट कर दी है। प्रथम मिलावटों को दूर करके पुनः इतिहास का अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए–

"हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़ क्यों हो गया, और इसका क्या कारण है कि किसी घटना या ग्रन्थ की तिथि का ठीक पता नहीं लगता ? जानना चाहिए कि स्वार्थी लोगों ने किताबों में से तिथियाँ उड़ा दीं और जैनियों तथा मुसलमानों ने ग्रन्थ जला दिए।"[2]

इससे सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द सरस्वती इतिहास पढ़ाए जाने के पूर्ण रूपेण पक्ष में थे, किन्तु उसका शुद्धिकरण करके ही। भूगोल का भी अध्ययन आवश्यक है। "यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इतिहास का आरम्भ ही भूगोल विद्या से होता है"।[3]

इतिहास जानने के लिए भूगोल का ज्ञान होना आवश्यक है। इस विषय में ऋषि दयानन्द लिखते हैं–"चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का बिडलाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँख वाले, यवन जिसको यूनान कह आए हैं और ईरान के शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आए थे।"[4]

विज्ञान पढ़ाना :

गुरुकुल में विज्ञान के अध्ययन को भी कुछ लोग ऋषि पाठ प्रणाली के विरुद्ध बताते हैं। परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जी विज्ञान के अध्ययन को दयानन्द की शिक्षा

---

१. पूना प्रवचन, दयानन्द सरस्वती, संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, २९ जुलाई, १९०८, पृ० ६
२. वही
३. सद्धर्म प्रचारक, ५ अगस्त, १९०८, पृ० ३
४. सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास, दयानन्द सरस्वती, पृ० १८७

प्रणाली के अनुकूल मानते हैं। स्वामी दयानन्द विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के पक्ष में थे। उन्होंने स्वयं नौविमान आदि विद्याविषय, तारा विद्याविषय लेख लिखे हैं।

हम विज्ञान को यूरोप की देन क्यों कहते हैं ? हमारी संस्कृत भाषा में वह शक्ति है जिससे वैज्ञानिक शब्दों की रचना संभव है। संस्कृत जितनी समृद्ध कोई भी भाषा नहीं है। इस भाषा में वैज्ञानिक शब्दों को निष्पन्न करने की क्षमता है–

"जो पूर्णतया इस भाषा को धातुओं को है वह अन्य किसी भाषा को नसीब नहीं। तब यदि हम पदार्थ विज्ञान का सबसे बढ़कर सम्बन्ध संस्कृत के साथ बतलावें तो ठीक ही समझना चाहिए।"[१]

स्वामी दयानन्द विज्ञान शिक्षा के मूक समर्थक ही नहीं थे अपितु उन्होंने अपने ग्रन्थों में विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट किया है–"अब सृष्टि विषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं इस विषय में लिखा जाता है।"[२]

विमानादि शीघ्रगामी यंत्रों के निर्माण में सहायक वस्तुओं का उल्लेख करते हुए दयानन्द सरस्वती लिखते हैं–"जिन पुरुषों को विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्यनाभ आचार्य का मत है।"[३]

स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल में संस्कृत के बाद विज्ञान विषय पर ही अधिक ध्यान देने के पक्ष में थे। जैसा कि उनके कथन से पता चलता है–

"यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि हम सब वह दिन शीघ्र लाना चाहते हैं जब साइंस को संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके।"[४]

परीक्षा का गुरुकुल में ही होना :

ब्रह्मचारियों की परीक्षा गुरुकुल में ही होती थी। इस पर भी कुछ लोग संशय करते थे कि मूल्यांकन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। स्वामी जी कहते हैं कि जितनी सही परीक्षा छात्र को पढ़ाने वाला कर सकता है उतनी सही परीक्षा बाहर से आया परीक्षक कदापि नहीं कर सकता। प्राचीन काल में भी उसी गुरुकुल के आचार्य ही छात्रों की परीक्षा लिया करते थे–

"क्या प्राचीन काल में गुरुकुलों में बाहर से परीक्षक आया करते थे ? क्या द्रोणाचार्य ने कौरवों तथा पाण्डवों की, ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर परीक्षा किन्हीं अन्य

१. स्वामी दयानन्द, संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, ५ अगस्त, १६०८, पृ० ५

२. दयानन्द सरस्वती, संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, १५ अगस्त, १६०८, पृ० ५

३. वही, पृ० ४

४. सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त, १६०८, पृ० ४

आचार्यों से करायी थी ? प्राचीन गुरुकुलाश्रमों के विषय में तो सन्देह ही नहीं उनमें वर्तमान समय की आत्मघातक परीक्षा प्रणाली प्रचलित नहीं थी।''[1]

इंग्लैण्ड में बर्मिंघम विश्वविद्यालय के शिक्षक सर आलिवर जॉर्ज का मानना है कि बाहरी परीक्षक आन्तरिक परीक्षाओं के सहायकारी होते हैं, वास्तविक परीक्षक तो संस्था का आचार्य ही होता है–

''किन्तु यह बाह्य परीक्षक अन्त परीक्षकों अर्थात् अध्यापकों के सहायकारी होते हैं।''[2]

इस प्रकार गुरुकुल में परीक्षा वहाँ के अध्यापकों द्वारा ही ली जाती थी। उन्होंने वर्तमान परीक्षा प्रणाली को बहुत ही दोषयुक्त बताया है। गुरुकुल में आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन तो होता ही था साथ में आधुनिक विषय अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि को भी पढ़ाया जाता था। परीक्षा वहाँ के अध्यापक ही लेते थे।

शिक्षा में व्याकरण की उपयोगिता

गुरुकुल में आर्ष ग्रन्थों के साथ-साथ आधुनिक विषयों का भी अध्ययन कराया जाता था। परन्तु पाणिनिकृत व्याकरण पर अधिक ध्यान दिया जाता था। स्वामी श्रद्धानन्द तो पाणिनि व्याकरण के समर्थक थे परन्तु लाला लाजपत राय व्याकरण को अनुपयोगी मानते थे। उन्होंने इसकी अनावश्यकता सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए वे निम्न हैं–

''१. आर्यसमाज जैसे प्राचीन संस्कृत के विद्वान पैदा करना चाहता है उनके लिए पदार्थ विज्ञान की आवश्यकता है।

२. प्रथम दस वर्ष में अष्टाध्यायी पढ़ाई जावे तो पदार्थ विद्या का शिक्षण असम्भव है। इसके लिए गणित का अभ्यास आवश्यक है।

३. भाषा को तो बिना ग्रामर (व्याकरण) के सीखा जा सकता है।''[3]

स्वामी श्रद्धानन्द जी, आर्यसमाज जैसे संस्कृत के विद्वान तैयार करना चाहता है, उनके लिए पदार्थ विज्ञान की शिक्षा आवश्यक मानते थे। क्योंकि पण्डित गुरुदत्त ने अपने कार्यों से सिद्ध कर दिया था कि पदार्थ विज्ञान का ज्ञान वैदिक ज्ञान में चार चाँद लगा सकता है। इसलिए प्रथम तर्क के साथ उनकी सहमति थी।

दूसरा तर्क–यदि तुम पदार्थ विज्ञान को सीखने में गणित की आवश्यकता के लिए

---

१. सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त, १६०८, पृ० ६

२. सद्धर्म प्रचारक, १६ अगस्त, १६०८, पृ० ४

३. द्रष्टव्य–सद्धर्म प्रचारक, १२ अगस्त, १६०८, पृ० ८

बल देते हो तो अष्टध्यायी का अभ्यास भी पदार्थ विज्ञान के समझने में सहायक होना चाहिए। स्वामी जी आगे लिखते हैं कि वैदिक विद्वान पाणिनिकृत अष्टाध्यायी और यास्ककृत निरुक्त को वेदार्थ में सबसे अधिक निर्णायक मानते हैं।

तीसरे तर्क के समाधान में स्वामी जी लिखते हैं कि नवीन भाषा को तो बिना ग्रामर (व्याकरण) के सीखा जा सकता है। अंग्रेजी, हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि तो बिना व्याकरण के पढ़ाई जा सकती है। परन्तु आज तक किसी शिक्षाविद् ने यह नहीं कहा कि प्राचीन भाषाओं–संस्कृत, लैटिन तथा ग्रीक आदि की पढ़ाई बिना ग्रामर के हो सकती है। इसलिए संस्कृत के अध्ययन के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने तो संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं के लिए व्याकरण आवश्यक माना ही है। साथ ही उन्होंने इस कथन को पुष्ट करने के लिए Mr. E. Lyttelton का कथन भी उद्धृधत किया है–

"Grammer Teaching—as a general rule this is quite the first beginning of the learning of Latin and Greek. The fashion is to begin Latin at about nine years of age Greek at about twelve but in both the learning by heart of grammar forms constitute the earliest lessons."[1]

इस प्रकार शिक्षा में व्याकरण की उपयोगिता सिद्ध ही होती है। पाणिनि व्याकरण को भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने बिना किसी लाग-लपेट के स्वीकार किया है। भट्टोजि दीक्षित ने अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या तो की ही है साथ में उस महान् आत्मा को नमन भी किया है–

येनाक्षरं समाम्नायंमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥[2]

शर्मन् देश का विद्वान् **गोल्ड स्टकर** भी पाणिनी व्याकरण को वेदार्थ की कुञ्जी मानता है–

> "Panini's Grammar is the centre of a vast and important branch of the ancient literature. No work has strub deeper roots than his in the sail of the scientific development of India. It is the standard of accuracy in speech. The gramital basis of the

---

१. मिस्टर ई. लिटन्टन, सन्दर्भांकित, सद्धर्म प्रचारक, ८ जुलाई, १६०८, पृ० ६

२. भट्टोजि दीक्षित, संदर्भांकित मध्यसिद्धान्त कौमुदी, पृ० ६

Vedic Commentaries. It is appealed to by every scientific writer whenever he meets with a linguistic difficulty."[1]

भाषा एवं लिपि

गुरुकुल में तो संस्कृत भाषा पर अधिक जोर था। लिपि भी देवनागरी ही प्रयोग की जाती थी। क्या संस्कृत सार्वभौम भाषा एवं देवनागरी लिपि सार्वभौम हो सकती है ? इस पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए 'श्रद्धा' में लिखा–

"सार्वभौम लिपि होने के योग्य देवनागरी लिपि है। सार्वभौम भाषा होने के योग्य संस्कृत भाषा है, पर मेरी और मुझ सरीखे अन्य विचारकों की सम्मति है।"[2]

अब यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि जब तक सारे संसार में एक भाषा एवं एक लिपि का प्रचार न हो तब तक क्या करना चाहिए ?

स्वामी जी इसका समाधान करते हुए लिखते हैं कि–"जब तक एक भाषा तथा एक लिपि न हो तब तक प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा ही हो सकती है। प्रारम्भिक शिक्षा, तमिल, तेलुगू, बंगाली, गुजराती तथा पंजाबी आदि भाषाओं में दी जा सकती है। उच्च शिक्षा में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।"[3]

गुरुकुल के रहन-सहन, खेल आदि पर जो आक्षेप लगे और उनका जिस प्रकार से स्वामी जी ने समाधान किया है उनसे गुरुकुल में होने वाले खेल तथा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं की जानकारी मिलती है। सबसे पहले हम खेल पर ही चर्चा करेंगे।

खेल (व्यायाम)

गुरुकुल में प्रातः और सायं दोनों समय खेल (व्यायाम) होता था। किसी ने इन खेलों के बारे में आक्षेप किया कि गुरुकुल में खिलायें जाने वाले खेलों–क्रिकेट, फुटबाल तथा हाकी आदि अंग्रेजी ढंग के हैं। ये ऋषि दयानन्द के नियम के विरुद्ध हैं।

स्वामी जी ने तो इस आक्षेप का समाधान किया था लेकिन इससे गुरुकुल में होने वाले खेलों के बारे में पूर्ण रूप से जानकारी मिलती है। कौन-कौन से खेल किस-किस समय खिलाये जाते हैं, इसका भी पता चलता है।

---

१. गोल्ड स्टकर, संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, १ जुलाई, १६०८, पृ० ५

२. श्रद्धा, २१ मई, १६२०, पृ० ३

३. द्रष्टव्य–श्रद्धा, २१ मई, १६२०, पृ० ३

"प्रातःकाल ऐसी कसरतें करायी जाती हैं जिससे नसें दृढ़ होकर शरीर पुष्ट हो और सायंकाल के लिए ऐसे खेल और कसरतें नियत हैं जिनसे शरीर में स्फूर्ति आवे और ब्रह्मचारी अपनी रक्षा की विद्या सीख सके।"[१]

किसी भी खेल पर किसी जाति या देश-विशेष का अधिकार नहीं हो सकता। खेल तो सम्पूर्ण विश्व के लिए हैं। कई खेल गाँव में खेले जाते हैं। उन्हीं का कुछ परिवर्तित रूप अन्य देशों में भी विद्यमान है। हम यह भी मान लें कि क्रिकेट, हाकी यूरोपियन खेल हैं तथापि स्वामी दयानन्द की विचारधारा है कि–यूरोपियनों में जो अच्छे गुण हैं उनको ग्रहण कर लेना चाहिए। वैसे किसी खेल पर किसी का अधिकार नहीं होता–"किसी खेल पर भी न अंग्रेजों की ही मोहर लगी हुई हैं और न हमारी लग सकती है। एक अंग्रेजी खेल का नाम 'हाईड एण्ड सीक' है, पंजाब में इसी को 'लुक्कनमीची' कहते हैं। क्या पंजाबियों ने अंग्रेजों से यह खेल सीखा था वा अंग्रेजों ने पंजाबियों से।"[२]

गुरुकुल में पाश्चात्य खेलों का भारतीयकरण कर दिया गया था। उनके नाम हिन्दी भाषा में रखकर यथेष्ट परिवर्तन भी कर दिये गये थे–

"गुरुकुल में तो इन खेलों पर अंग्रेजियत का कोई चिह्न बाकी नहीं रहा। हमारे यहाँ क्रिकेट का खेल नहीं कन्दुक क्रीड़ा होती है, फुटबाल नहीं खेला जाता, पाद कन्दुक क्रीड़ा का विधान है।"[३]

खेल से विद्यार्थी का मानसिक और शारीरिक विकास होता है, पुष्ट शरीर में ही पुष्ट मस्तिष्क निवास करता है, अतः शरीर को पुष्ट करने की दिशा में खेल बहुत आवश्यक हैं। ये एक-दूसरे से मिलकर खेले जाते हैं, अतः खेलों से एकता की भावना भी मन में आती है।

अश्वारोहण :

गुरुकुल में घोड़े की सवारी भी सिखायी जाती थी। इस पर किसी ने कह दिया कि यह ब्रह्मचारियों कि नियमों के विरुद्ध है। इसके समाधान में स्वामी श्रद्धानन्द जी वैद्यों की सलाह का एक उद्धरण देते हैं–"आजकल के बड़े योग्य शिक्षक वैद्यों की सम्मति है कि १८ वर्ष की आयु से पहले घोड़े की सवारी सिखाने का आरम्भ नहीं करना चाहिए।"[४]

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २६ जुलाई, १६०८, पृ० ४
२. वही
३. वही
४. वही, २२ जुलाई, १६०८ पृ० ५

घोड़े पर चढ़ने की अनुमति नवीं से ऊपर की कक्षा वाले ब्रह्मचारियों को है। इनमें नवम कक्षा में केवल एक छात्र १७ वर्ष का है शेष सभी १८ वर्ष से ऊपर के हैं–

"घोड़े पर चढ़ने की इस समय ११, १० तथा ९ श्रेणीं के ब्रह्मचारियों को आज्ञा है। आधे एक दिन घोड़े पर जावें और आधे गतकादि खेलें। भविष्यत् में ग्यारहवीं तथा बारहवीं श्रेणी के ब्रह्मचारियों को ही घोड़े पर चढ़ना सिखाया जाया करेगा।"[1]

भारतीय समाज में यह व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है कि छात्रों को गुरुकुल में ही अश्वारोहण आदि विद्या सिखा दी जाती थी, जिससे वे स्वयं की रक्षा में समर्थ होकर दूसरों की सहायता कर सकें। इस विषय में प्रमाण देते हुए वे लिखते हैं–

"क्या कौरवों तथा पाण्डवों ने धनुर्विद्या के साथ घोड़े की सवारी वहाँ नहीं सीखी थी ? फिर क्या यही लोग राजा दाहिर के सुकुमार पुत्रों का (सोलह वर्ष की आयु के पहले) गुरुकुल छोड़ कर ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पहले ही यवनों से युद्ध करते हुए मरना अपने व्याख्यानों में वर्णित करके सर्वसाधारण को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्साहित नहीं किया करते ? तब क्या दाहिर के पुत्र पैदल ही लड़े थे ? और यदि वे घोड़े पर चढ़कर अपनी सेना को लड़ाते थे तो घोड़े की सवारी उन्होंने गुरुकुल से बाहर कहाँ सीखी।"[2]

सर्वांगपूर्ण शिक्षा की सम्पूर्त्यर्थ एवं बालकों में शौर्य के भव्य भाव भरने की दिशा में 'अश्वारोहण' सर्वथा समीचीन ही है।

साबुन का प्रयोग

गुरुकुल में साबुन के प्रयोग पर भी लोग व्यंग्य करते थे। इसके समाधान में स्वामी जी लिखते हैं कि "जब कपड़े धोने के लिए धोबी नहीं रहता, तब ब्रह्मचारीगण स्वयं साबुन से कपड़े साफ कर लेते हैं। इसी प्रकार जब आँधी के दिनों में सिर में धूल बहुत पड़ जाती थी तो ब्रह्मचारीगण साबुन से सिर धो लेते थे।"[3]

सिर साफ करने के लिए प्रारम्भ में आंवले का प्रयोग किया जाता था। एक बार स्वामी जी की अनुपस्थिति में भण्डार में आंवले नहीं रहे, तो सिर में साबुन लगाना प्रारम्भ हो गया। वास्तव में साबुन का प्रयोग योजना बनाकर नहीं किया गया बल्कि

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १९०८, पृ० ५

२. वही,

३. वही,

परिस्थितिवश उसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। युगानुरूप होने से स्नान के लिए अच्छी विधि और अच्छे द्रव्यों से निर्मित साबुन से नहाना स्वास्थ्य के लिए एवं शरीर-शुद्धि के लिए उपयुक्त ही है।

क्षौर-कर्म

गुरुकुल के बड़े ब्रह्मचारी दाढ़ी और मूँछ मुंडवाते थे। इस पर कहा गया कि यह क्षौर कर्म ब्रह्मचर्याश्रम के विरुद्ध है। इस बात का समाधान स्वामी जी ने बड़े युक्ति-युक्त ढंग से किया–

"केशों का सँवारना और उनके सुन्दर बनाने के विषय में फँसना तो अवश्य ब्रह्मचारी के लिए दूषित कर्म है और जिनमें ऐसा व्यसन होता है उसे बराबर दूर कराया जाता है, किन्तु केश छेदन का ब्रह्मचारी के लिए सर्वथा निषेध कहीं देखने में नहीं आया।"[1]

"मुण्डित अथवा शिखावाला या जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से ब्रह्मचारी कोई प्रकार रखे।"[2]

भारत उष्ण प्रधान देश है, अतः यहाँ ब्रह्मचारियों को जटिल रखना कठिन है। इसलिए उन्हें शिखाधारी रखना ठीक है। वातावरण को ध्यान में रखते हुए ब्रह्मचारियों को शिखा रखने को कहा जाता है इसलिए बड़े ब्रह्मचारी मूँछ और दाढ़ी मुंडवा देते हैं। यदि कोई जटा रखना चाहे तो इसके लिए उसे स्वतंत्रता है।

ये सारे के सारे आक्षेप गुरुकुल की शिक्षा, रहन-सहन, वस्तुओं के प्रयोग, खेल आदि पर जो लगाये गये थे दुर्भावना से प्रेरित थे। परन्तु इस दुर्भावना का लाभ ही हुआ क्योंकि इससे गुरुकुलीय शिक्षा तथा होने वाले कार्यों का खुलासा होता है, एवं मन में उठने वाली शंकाओं और भ्रान्तियों का निराकरण भी हो जाता है।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

'सद्धर्म प्रचारक' में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने 'शिक्षा का सार्वभौम आदर्श' शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसमें गुरु और शिष्य के वैयक्तिक सम्बन्ध को ही सार्वभौम शिक्षा का मूल माना है। आचार्य रूपी पिता ही विद्यारूपी माता के गर्भ में धारण कराके उसकी रक्षा करता है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के साथ सम्बन्ध एवं प्रेम उनका इन शब्दों में झलकता है–

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २२ जुलाई, १९०८, पृ० ५

२. वही : **मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।**
नैनं ग्रामेऽभिनिखिलो चेत् सूर्यो नाभ्युदयात् क्वचित्॥ मनु० अ० २, श्लोक २/९

"यदि इस समय किन्हीं विशेष व्यक्तियों के साथ मेरा अगाध प्रेम का सम्बन्ध है तो वह गुरुकुल के ब्रह्मचारी ही हैं।"[1]

विद्यार्थी अपने माता-पिता को छोड़कर आता है। गुरुकुल में यदि उसे माँ-बाप का-सा प्यार न मिले तो विद्यार्थी का उदास हो जाना स्वाभाविक ही है। परन्तु स्वामी जी ऐसा होने नहीं देते थे। गुरुकुल के उत्सव पर सभी ब्रह्मचारियों के संरक्षक सम्बन्धी मिलने आते थे। सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी अभिभावक के न आने से बड़ा उदास हो गया। महात्मा जी ने यह समाचार मालूम होते ही उसको अपने पास बंगले पर मिलने के लिए बुलाया। ब्रह्मचारी बहुत हँसता हुआ लौटकर आया और आकर अपने साथियों से बोला, "हम भी अपने पिताजी से मिल आये।" ऐसी घटनाएँ प्रायः गुरुकुल में घटती रहती थीं। इस पितृ-प्रेम का ही यह परिणाम हुआ कि स्नातक होने के बाद भी ब्रह्मचारी स्वामी जी को पिताजी के नाते से ही पत्र लिखते थे और अपने को 'आपका पुत्र' लिखने में गौरव का अनुभव करते थे।

पहले दीक्षान्त संस्कार पर जो भाषण स्वामी जी ने दिया था उससे ब्रह्मचारियों के प्रति आचार्य की ममत्व-भावना और गुरुकुल के सम्बन्ध की उच्च आकांक्षा का पता चलता है–

"यज्ञ रूप परमात्मा धन्य है जिसकी अपार कृपा से आर्यसमाज के रचे हुए इस ब्रह्मचर्य-आश्रम-रूपी महान-यज्ञ का पहला चरण आज समाप्त होता है। आर्य जाति का कौन ऐसा सभासद है, जिसे सहस्रों वर्षों से लुप्त इस दृश्य का आज पुनः प्रदर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो। गुरुकुल के स्नातको ! तुम गुरुकुल रूपी वृक्ष के फल हो। सारे सभ्य संसार की आँखें तुम पर लगी हुई हैं। परमात्मा आशीर्वाद करें कि तुम संसार में धर्म और शान्ति के फैलाने के साधन बनकर अपने कुल के यश को सारे संसार में फैलाओ। तुम्हारा कर्त्तव्य इस कारण भी अधिक है कि पीछे आने वाले स्नातक तुम्हारा अनुकरण करेंगे। उनके लिए तुम ही आदर्श होगे। मैं जानता हूँ कि तुमको बड़ी कठिनाई होगी, जबकि तुम्हारे लिए इस समय कोई जीवन आदर्श नहीं है।[2]

कितने मार्मिक, हृदयस्पर्शी और भावपूर्ण शब्द हैं। इससे बढ़कर गुरु-शिष्य का प्रेम और क्या हो सकता है ?

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २४ जून, १९०८, पृ० ३

२. स्वामी श्रद्धानन्द– सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ३०८

सब मनुष्य एक-सी शक्तियाँ तथा एक-सी प्रकृति लेकर उत्पन्न नहीं होते। उनकी रुचियाँ अलग-अलग होती हैं। इसलिए बच्चे की रुचि को देखते हुए विषय पढ़ाया जाना चाहिए। शिक्षा का यही सार्वभौम नियम है जिस कारण से आचार्य और शिष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। गुरुकुल शिक्षा पद्धति इसी के अनुरूप है।

सच्ची शिक्षा

स्वामी जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' में 'सच्ची शिक्षा' नामक शीर्षक से एक लेख लिखा। जिसमें यह दर्शाया गया है कि भारतीय तो पाश्चात्य चकाचौंध में अपनी प्राचीन शिक्षा की गरिमा को भूल रहे हैं। परन्तु विदेशी भारत की प्राचीन शिक्षा के गौरव को समझकर उसकी तरफ आकर्षित हो रहे हैं। ढाका में सम्वत् १९१२ में सारस्वत समाज ने जो अभिनन्दन पत्र वायसराय को दिया था उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ लिखा, उससे हमारी शिक्षा की गरिमा सिद्ध होती है–

"Pandits of the Saraswat Samaj the Sanskrit language is its heavy antiquity cherishis gems of morality and philosophy which are a precious heir loom to all generations and I am glad to meet you which make is elevating literature your study."[1]

स्वामी जी आगे लिखते हैं–जो व्यक्ति संस्कृत की शिक्षा की गरिमा को मानते हैं वे साथ में यह सन्देह व्यक्त करते हैं कि कहीं पुराने साहित्य के पंजे में फँसकर हमारी जाति उन भ्रममूलक विश्वासों और संकुचित विचारों में न फँस जाय जिनसे हमें विदेशी शिक्षा ने मुक्ति दिलायी।

इस सन्देह को सर्वथा निर्मूल भी नहीं कहा जा सकता। काशी आदि में जो संस्कृत की शिक्षा दी जाती है वह मनुष्य को भ्रममूलक विचारों तथा संकुचित विचारों से जोड़ती है। इसलिए वे संस्कृत की शिक्षा को शुद्ध रूप (आर्ष पद्धति) से देने के पक्ष में थे। उन्होंने गुरुकुल को इस कार्य में महत्त्वपूर्ण बताकर उसकी उपयोगिता सिद्ध की–"ऐसे समय में गुरुकुल ही एक ऐसा माध्यम है जिसमें संस्कृत की शिक्षा को आर्ष पद्धति के अनुरूप देकर मन और बुद्धि को उदार बनाया जा सकता है। गुरुकुल इस दिशा में कार्य कर रहा है।"[२]

इस प्रकार सच्ची शिक्षा तो संस्कृत शिक्षा ही है, जिसमें वाङ्मय सुरक्षित है और जो नानाविध प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान की भण्डार है, संस्कृत के बिना तो हम भारतीय संस्कृति के स्वरुप को भी नहीं समझ सकते हैं। गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति में संस्कृताध्ययन का ही वैशिष्ट्य है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २८ फरवरी, १९१२, पृ० ५

२. सद्धर्म प्रचारक, २८ फरवरी, १९१२, पृ० ४

शिक्षा की आवश्यकता और प्रारूप

'सद्धर्म प्रचारक' में स्वामी जी लिखते हैं कि शिक्षा की आवश्यकता सामान्य जनता को भी है इस बात को ये सामान्य नागरिक तो जानते ही नहीं। परन्तु इस तरफ बुद्धिजीवी वर्ग ने भी ध्यान देना छोड़ दिया था। हमेशा अंग्रेजों के सामने हाथ फैलाने की आदत पड़ गयी थी। बाद में जब अंग्रेजों ने मनमानी की तब देश के नेताओं की आँखें खुलीं–

"हमारे नेता जब अंग्रेजों के सामने हाथ फैलाते-फैलाते निराश हो गये थे तब जाकर कहीं उनकी अज्ञान की निद्रा भंग हुई थी। जब उन्होंने देश की सामान्य जनता को शिक्षित करने की बात ठानी थी।"[१]

मुसलमानों में नई जागृति का संचार हुआ, तो उन्होंने अलीगढ़ कालिज को विश्वविद्यालय बनाने की माँग प्रारम्भ कर दी। पं० मदनमोहन मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव रखा। गोखले, एनी बैसेन्ट आदि ने भी शिक्षा में सुधार के लिए जो प्रस्ताव उचित थे उनका स्वामी जी ने समर्थन किया। उस समय शिक्षा के लिए जो प्रारूप रखा था वह अपने में कुछ विशेषताएँ संजोए हुए था। उन विशेषताओं का वर्णन स्वामी जी ने निम्न प्रकार से किया है–

१. समान शिक्षा :

प्रथम विशेषता–शिक्षा में सुधार की यह माँग थी कि सबको समान रूप से शिक्षा दी जाय। जाति-पांति तथा ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित शिक्षा होनी चाहिए। छोटे तथा बड़े का व्यवहार न हो। प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा अनिवार्य हो। इस काम में राजनीतिक बल का प्रयोग किया जाय।[२]

२. धार्मिक शिक्षा :

"शिक्षा में धार्मिक शिक्षा भी होनी चाहिए। जहाँ बच्चे का शारीरिक, मानसिक विकास आवश्यक है, वहाँ पर आत्मिक विकास भी जरूरी है, क्योंकि शिक्षा का सर्वांगीण होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब उसमें धार्मिक शिक्षा का भी समावेश हो।"[३]

३. शिक्षा का व्यवसायी होना :

"शिक्षा के व्यवसायी करने से अधिक लाभ होगा। हमारे देश की शिक्षा

१. सद्धर्म प्रचारक, २० मई, १६१२, पृ० ४

२. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, २१ फरवरी, १६१२, पृ० ८

३. द्रष्टव्य – वही, पृ० ६

कल्पनात्मक अधिक है और क्रियात्मक कम। इसलिए उसे क्रियात्मक अधिक बनाना होगा।"[1]

इन विशेषताओं के लिखने के बाद स्वयं स्वामी जी अपना सुझाव भी देते हैं–यदि हमें अपनी संस्कृति के ह्रास को रोकना है तो अंग्रेजी विश्वविद्यालयों के बजाय भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना कर आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन पर ध्यान देना होगा।

प्रबन्धकर्तृ सभा

गुरुकुल के व्यवस्थित एवं सुन्दर संचालन के लिए स्वामी जी ने प्रबन्धकर्तृ सभा की आवश्यकता को महसूस करते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' में 'गुरुकुल प्रबन्धकर्तृ सभा की आवश्यकता' नामक शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसमें सभा का प्रारूप तथा उससे होने वाले लाभों की तरफ भी इशारा किया था।

नई प्रबन्धकर्तृ सभा में सभासदों की संख्या के बारे में उनका दृष्टिकोण था कि २१ से २५ के बीच हों। इनमें से ८ सदस्य आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के सदस्य हों। ये सभी सदस्य अलग-अलग विषयों के ज्ञाता होने चाहिए। गुरुकुल में पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों के संरक्षक भी सभा में प्रतिनिधि के रूप में होने चाहिए। इनकी संख्या सभा में तीन तो होनी ही चाहिए। गुरुकुल के स्नातकों के प्रतिनिधियों की संख्या सभा में ४ होनी चाहिए। गुरुकुल का आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता भी अपने पद के अधिकार से सभासद होंगे। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रधान ही इस सभा का प्रधान होगा। इस प्रकार स्वामी जी गुरुकुल के ठीक-ठीक संचालन के लिए सभा में अलग-अलग क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व स्वीकार करते थे।

प्रबन्धकर्तृ सभा के लाभ

इस सभा के बनने से जिन-जिन लाभों की अपेक्षा की जा रही थी वे निम्न हैं–

१. जो प्रस्ताव कई वर्षों तक पड़े रहते हैं वे शीघ्र ही क्रियान्वित हो जाया करेंगे। क्योंकि इसका मुख्य कार्यालय गुरुकुल में होगा तथा सदस्यों का सीधा सम्बन्ध गुरुकुल से होगा।
२. सभा के बनने से धन एकत्र करने में सुविधा होगी। क्योंकि कोष का प्रबन्ध नई सभा के हाथ में आ जाने से वे सभी दान स्वयं भी इकट्ठा किया करेंगे।
३. आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य तथा ब्रह्मचारियों के संरक्षक/अभिभावक भी जब गुरुकुल की नई प्रबन्धकर्तृ सभा से जुड़ेंगे तो उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना पैदा होगी।

---

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, २१ फरवरी, १९१२, पृ० ८

४. सभा में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के होने से गुरुकुल के प्रबन्ध में एक नयापन आयेगा। क्योंकि वे गुरुकुलीय जीवन से परिचित होते हैं। उन्हें विशेष अनुभव होता है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल के चहुँमुखी विकास के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा से नई सभा बनाने की अपील की थी। जिसे उन्होंने 'गुरुकुल प्रबन्धकर्तृ सभा' का नाम दिया था।

गुरुकुल की सफलता

अट्ठारह वर्ष तक गुरुकुल के आचार्य पद पर सुशोभित रहकर स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, छात्रों में राष्ट्रीयता और निर्भीकता के भाव जाग्रत किये और राष्ट्र भाषा को समृद्ध किया। राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में विज्ञान आदि उच्च विषयों की शिक्षा देकर जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी उसे तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था–

"मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"[१]

वास्तव में विज्ञान आदि उच्च विषयों की शिक्षा उस समय हिन्दी में देना एक विशेष उपलब्धि ही कहा जा सकता है। विज्ञान की हिन्दी पुस्तकों का अभाव आज भी खटकता रहता है तो आज से नब्बे वर्ष पूर्व स्थिति क्या रही होगी। स्वामी श्रद्धानन्द तो सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया था कि हिन्दी के माध यम से भी उच्च विषयों की शिक्षा दी जा सकती है। तभी तो महात्मा गांधी ने महामना पं० मदन मोहन मालवीय से कहा था–

"गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।"[२]

गुरुकुल ने केवल भारतीयों को ही प्रभावित नहीं किया अपितु अपने विशेष कार्यों से विदेशियों को भी आकर्षित किया। कुछ व्यक्ति यहाँ हिन्दी पढ़ने के लिए आते थे। कुछ यहाँ हो रहे प्रयोगों से आकर्षित होकर आते थे और यहाँ के वातावरण पर मुग्ध हो जाते थे। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी

१. सन्दर्भांकित – भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द, विष्णु प्रभाकर, पृ० २२
२. सन्दर्भांकित – वही

में ऐसे कई प्रसंगों का रोचक वर्णन किया है–

"१९०९-१० के लगभग दिल्ली के सेण्ट स्टीफन्स कॉलेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गये थे जैसे दो बहनों के होते हैं। दीनबन्धु सी.एफ.एण्ड्रूज और प्रिंसिपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। इसे अकारण स्नेह का ही नाम देना चाहिए क्योंकि न तो उसमें किसी का स्वार्थ था ओर न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही यह स्नेह पैदा हुआ था।"[१]

गुरुकुल ने देशभक्त तैयार करने तथा एक ऐसा भयरहित वातावरण तैयार करने में विशेष भूमिका निभायी जिसमें प्रत्येक भारतवासी अपना भी अधिकार समझने लगा था। अब वे मानो तोप के मुँह में भी निर्भय होकर जाने के लिए तैयार थे–

"हम बाईं गाल पर थप्पड़ खाकर दाहिनी गाल आगे न करेंगे प्रत्युत तुम्हारी चोट के उत्तर में जबरदस्त चोट लगावेंगे।"[२]

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति को स्वामी श्रद्धानन्द ने पल्लवित कर स्वामी दयानन्द के मिशन को आगे बढ़ाया। उन्होंने गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति पर लगाये गये आरोपों का निराकरण किया और संशोधन के साथ आर्ष ग्रन्थों के द्वारा संस्कृति की शिक्षा का निर्देश दिया। साथ ही उन्होंने आधुनिक विषयों के पठन-पाठन और खेल (व्यायाम) की आवश्यकता पर भी बल दिया। वे सभी प्रान्तीय भाषाओं के पक्षधर थे परन्तु वे चाहते थे कि वे सब भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जायें। स्वामी जी समान शिक्षा, धार्मिक शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा को श्रेयस्कर मानते थे। गुरुकुल की सुन्दर सुचारु व्यवस्था के लिए गुरुकुल प्रबन्धकर्तृ सभा की रूपरेखा भी निर्मित की थी।

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुलीय शिक्षा के पुनरुद्धार के साथ जो नये प्रयोग शिक्षा आदि के क्षेत्र में किये थे, वे पूर्ण रूप से सफल रहे। उनकी सफलता का द्योतक गुरुकुल कांगड़ी आज भी प्रगति की दिशा में अग्रसर है। यहाँ पर आर्ष ग्रन्थों के साथ विज्ञान आदि का भी अध्ययन कराया जाता है।

***

---

१. मेरे पिता, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ०

२. श्रद्धा, ३० जुलाई, १९२०, पृ० ३

षष्ठ अध्याय

राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वामी श्रद्धानन्द जी की पत्रकारिता

आज हमारे देश की राजनीति ने अपना जो नग्न रूप उजागर किया है तथा हमारे राजनेताओं में से अनेक का जो घिनौना एवं विकृत चेहरा सामने आया है, उससे कई बार हमें लगता है जिन बलिदानियों ने देश को स्वतंत्र कराने के लिए अपना तन-मन-धन लुटा दिया, वे यदि अपने सामने ऐसा होता हुआ देखते तो क्या वे इस बात को सहन कर पाते। उनके अन्दर कितनी गहरी वेदना उठती। स्वतंत्रता किसी भी राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। किन्तु उस स्वतंत्रता का क्या लाभ, जिसमें रक्षक ही भक्षक बन जायें। ऐसे लोग वास्तव में राष्ट्र के अर्थ को नहीं जानते और न ही उन आदर्शों का पालन करते हैं, जिनसे किसी राष्ट्र का निर्माण होता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वामी श्रद्धानन्द जी की पत्रकारिता पर चर्चा करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि **'राष्ट्र'** क्या है।

राष्ट्र :

पाश्चात्य विद्वानों ने 'राष्ट्र' की परिभाषा अपने-अपने ढंग से की है। किन्तु यूरोप, अफ्रीका, अमरीका आदि के छोटे-छोटों राष्ट्रों और उनमें व्याप्त विद्वेषों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके ये विभाजन प्रायः देश, इतिहास, भाषा, धर्म या जाति के आधार पर बने हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में देश, राष्ट्र और राज्य का एक-दूसरे से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। विश्व के तीन चौथाई से अधिक तथाकथित राष्ट्र जनसंख्या या भूविस्तार की दृष्टि से भारत के एक-एक प्रदेश से भी बहुत छोटे हैं। अंग्रेजों की कूटनीति से ही प्रभावित होकर भारत का विभाजन भी हुआ। पश्चिम एशिया के अरब देश अनेक राष्ट्रों के रूप में स्वयं को एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं।

इसके विपरीत एशिया के अधिकांश राष्ट्र अपनी ऐतिहासिक एकता के साथ-साथ भाषा, धर्म जाति के भेदों से ऊपर उठकर स्वयं को एक 'राष्ट्र' के रूप में मानते हैं। प्राचीन काल से भारत में शतशः राज्य रहे हैं, किन्तु सदा से ही राष्ट्र 'भारत' या 'आर्यावर्त' जैसे नामों से जाना जाता रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हमने सांस्कृतिक एकता को ही सदा से 'राष्ट्र' की आधारभूमि स्वीकार किया है। यही बात 'चीन' जैसे विशाल देश के साथ भी है।

वैदिक काल से ही 'राष्ट्र' को एक महान् सांस्कृतिक संगठन एवं संघ के रूप में माना जाता रहा है, जिसकी आधारशिला रखी जाती है, उसके महामनीषियों के चिन्तन,

इच्छाशक्ति, तप, त्याग एवं दीक्षा के बल पर। इतनी सहस्राब्दियों के बाद भी यदि आज हम स्वयं को 'भारतीय' कहने में गर्व अनुभव करते हैं तो यह किसी देश, धर्म या जाति की सीमा के कारण नहीं बल्कि ऐसा इस कारण है कि हम चाहकर भी सम्पूर्ण भारतीय जनों में सांस्कृतिक चिन्तन, सामाजिक मूल्य एवं जीवन मूल्य की दृष्टि से एक-दूसरे में विभेद नहीं मानते।

परन्तु आज के तपोहीन, आचरणहीन एवं सद्यः प्रसूत स्वयंभू राजनेताओं में से अधिकांश के भ्रष्ट आचरण ने हमारी संस्कृति-प्रसूत इस राष्ट्रीय एकता में भंयकर दरारें डाल दी हैं। इन दरारों का उन्होंने आधार बनाया है, जाति, भाषा, धर्म आदि को। वे स्वयं सांस्कृतिक चेतना से विहीन हैं, इसीलिए सांस्कृतिक मूल्यों का महत्त्व वे नहीं जानते। परिणाम यह है कि जिस तरह का विभाजन सन् १९४७ में धर्म के नाम पर हुआ था, ठीक उसी तरह के विभाजन की संभावनाएं धर्म, जाति और भाषा के नाम पर निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। भौगोलिक, राजनीतिक ईकाई के रूप में राष्ट्र की परिभाषा देना बड़ा सरल है, परन्तु भारत जैसे विविधता वाले देश में यह परिभाषा अपूर्ण है क्योंकि भाषा-वैविध्य आदि के कारण उसमें अनेकता के भी दर्शन होते हैं। इसलिए राष्ट्रीय एकता की भावना को जाग्रत रखना कठिन कार्य हो गया है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही एकता को आज तक बनाये रखने में सफल हुई है, जो कि इसकी आधारशीला है।

स्वतंत्रता आन्दोलन में आर्यसमाज का योगदान :

आर्यजाति के जीवन में वह सबसे बड़ा दुर्दिन था, जब कि राजर्षि श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी भरे दरबार में **'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव'**– की घोषणा करके कुपथगामी दुर्योधन ने महाभारत रूपी प्रलयंकर समरांगण की चिंगारियों को हवा दी थी। आर्यजाति के जीवन में उसका परिणाम पतन दास एवं दासत्व के रूप में सामने आया। अपना विश्वविमोहक गौरव, प्रभुत्व समस्त ब्राह्मणत्व एवं राष्ट्र का शौर्य उस युद्धाग्नि की भेंट हो गया। शक्ति के न रहने से विजातीय तत्त्वों ने आर्य जाति को कुचलना आरम्भ किया। शारीरिक दासता के साथ-साथ वेद विद्या के ज्ञाता ब्राह्मणों के अभाव से राष्ट्र का अध्यात्मपथ भी घोर अन्धकार से परिपूर्ण हो गया जिसके कारण भारतीय नागरिकों के जीवन में नानाविध दुर्गुण, दुर्व्यसन एवं कुरीतियों ने पदार्पण किया। जो आर्य जाति तप, त्याग, सदाचार, विज्ञान, राजनीति एवं आर्थिक दृष्टि से विश्व का नेतृत्व करती थी, वही जाति सब बातों के लिए संसार के सामने झोली पसारे भिक्षुक के रूप में खड़ी दिखाई देने लगी थी।

संसार से पाखण्ड, गुरुडम, कुरीतियों एवं रूढ़िवाद के भूत को भगाने वाली इस जाति के अपने ही जीवन में इन सब कुकृत्यों का बोलबाला हो गया था। संसार का अन्नदाता भारत का नागरिक एक-एक दाने को तरसने लगा था। अनाथों की करुण कराहें, बाल विधवाओं का हृदय विदारक क्रन्दन एवं वेद के सत्पथ से विचलित मानव का आर्तनाद ही सुनने को मिलता था। इनके साथ ही भारतीयों के दुर्भाग्य से अस्पृश्य समझे जाने वाले निम्न वर्ग को पादरी तथा मौलवी भी पकी खेती जानकर दोनों हाथ से काटने में संलग्न थे। अर्थात् उनका धर्म परिवर्तन कर उन्हें अपने में मिलाने लगे थे।

ऐसी असहाय दशा में पड़ा भारत किसी उद्धारक संजीवन-संचारक, कुशल वैद्य की प्रतीक्षा में था जो उसके समस्त दुःखों, क्लेशों का पूर्ण निदान करके उसे सर्वाधिक स्वास्थ्य-लाभ करा सके और उसके यथार्थ रूप को दर्शा सके। ऐसे सर्वतोविपदाच्छन्न कराल काल में भारत के पुण्य क्षेत्र में ऋषिवर दयानन्द का आगमन हुआ।

सामान्य लोगों में यह भ्रान्त धारणा व्याप्त है कि भारत की स्वाधीनता की जन्मदाता कांग्रेस पार्टी ही है। कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ ई० मि० एलन आकटेवियन ह्यूम ने की थी। कांग्रेस में शामिल लोग प्रतिवर्ष इकट्ठे होकर अंग्रेज शासन को टिकाये रखने हेतु इसकी प्रशस्ति के प्रस्ताव पारित करते हुए केवल सरकारी नौकरी की माँग करते थे। प्रारम्भ में यह सामान्य भारतीयों की पार्टी नहीं थी। अंग्रेजी वेशभूषा में केवल अंग्रेजी बोलते हुए अंग्रेजों की शैली में सरकार को प्रतिनिधिमण्डल भेजना इसका प्रमुख कार्य था। बंग भंग आन्दोलन के पश्चात् १६०६ ई० में लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस के मंच से–**'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'**–का प्रसिद्ध नारा दिया। १६२६ ई० में कांग्रेस ने एक वर्ष में औपनिवेशिक शासन देने की माँग की और नहीं मिलने पर अन्ततः १६३० ई० में पूर्ण स्वाधीनता की माँग की गई। इसके विपरीत कांग्रेस के भी जन्म से १० वर्ष पूर्व १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने धार्मिक समुदाय होते हुए भी क्रियात्मक रूप से भारत में स्वाधीनता आन्दोलन की नींव डाली।

यदि महात्मा गांधी **'राष्ट्रपिता'** हैं तो स्वामी दयानन्द **'राष्ट्रपितामह'** हैं।

महर्षि दयानन्द के जीवन काल में देश अंग्रेजों की दासता में जकड़ा हुआ था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए समय-समय पर भारतीयों ने सशस्त्र संघर्ष किए, जिसमें १८५७ ई० का स्वाधीनता संघर्ष सबसे बड़ा था। उसे अंग्रेजों ने निर्दयतापूर्वक दबा दिया था। १८५७ ई० के स्वाधीनता आन्दोलन में स्वामी दयानन्द ने भाग लिया था

या नहीं, इस पर पर्याप्त मतभेद है। **डॉ० अजेय** का मत है कि स्वामी दयानन्द जी ने १८५७ के स्वाधीनता आन्दोलन में **'अलख'** अर्थात् अलक्षित रह कर भाग लिया था–

'संभवतः उसी काल ऋषिवर क्रान्तिकारी–
नाना धोदुपन्त से थे मिले कानपुर में।
भावी सत्तावन की प्रचण्ड क्रान्ति से थी पूर्ण–
सह अनुभूति दयानन्द जी के उर में।।
चार-पाँच वर्ष तक अलख, स्वतंत्रता की
अलख जगाते रहे वह शान्त सुर में।।'

यह निर्विवाद है कि ३३ वर्षीय इस युवा साधु दयानन्द ने इस आन्दोलन को अपनी आँखों से देखा था और इसका उनके भावी जीवन पर गहरा प्रभाव भी पड़ा था।

१८५७ ई० के स्वाधीनता संघर्ष की असफलता ने भारतीयों के मनोबल को बुरी तरह तोड़ दिया था। परिव्राजक के रूप में गंगा के तट पर भ्रमण करते हुए युवा दयानन्द ने एक युवती को अपने बच्चे के शव को नदी में चुपचाप छिपाकर बहाते हुए देखा। कफन को धोकर पुनः साड़ी के रूप में उसे पहनकर वह युवती विगलित नयनों से अश्रुकणों को संजोकर आगे बढ़ी। पराधीनता से उत्पन्न निर्धनता का यह नग्न स्वरूप देखकर दयानन्द विचलित हो उठे। दयानन्द का मृत्यु-पर्यन्त का जीवन इस बात का साक्षी है कि उन्होंने इस दृश्य को कभी नहीं भुलाया और वे देश से निर्धनता को निर्मूल करने में सतत संलग्न रहे। उन्होंने १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के बारे में पट्टाभि सीतारम्मैया ने कांग्रेस के इतिहास में लिखा है–

"स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज अति उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन था। यह महान् स्वामी जी की प्रेरणा से प्रादुर्भूत था और अपने देशभक्ति पूर्ण उत्साह में इसका स्वरूप आक्रमणात्मक था।"[२]

स्वामी दयानन्द पहले भारतीय थे जिसने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वदेशी और स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया था–

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता

---

१. दयानन्द शतक, डॉ० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय', पृ० १४
२. द्रष्टव्य कांग्रेस का इतिहास, पट्टाभि सीतारम्मैया, पृ० १२

है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी सुखदायक नहीं है।"[1]

आर्याभिविनय में कुछ मंत्रों का अर्थ करते हुए महर्षि ने प्रार्थना की थी–

"हे महाराजाधिराज परब्रह्म अन्य देशवासी राज्य हमारे देश में कदापि न हो तथा हम लोग कभी पराधीन न हों।"

इसी प्रकार एक दूसरे मन्त्र का अर्थ देखिये–"मनुष्य को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ा के स्वाधीनता निरन्तर स्वीकार करें।"

यूरोप में जो कार्य बेकन, **दस्कार्ते**, स्पिनोजा और बाल्टेयर ने किया वही कार्य भारत में महर्षि दयानन्द ने किया। महर्षि दयानन्द ने देश को जगाने का कार्य अद्-भुत रीति से किया। उनका कहना था कि भारतीयों को अंग्रेजों का अनुसरण करते हुए स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए।

लाहौर में आर्यसमाज ने सर्वप्रथम स्वदेशी वस्तुओं की दुकान खोली थी। १८७६ ई० में एक प्रस्ताव पारित कर इसके सभी सदस्य स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करते थे। १८६५ ई० में पंजाब नेशनल बैंक के संस्थापकों में अधिकांश आर्यसमाज के सदस्य थे। १६०२ ई० में पंजाब नेशनल बैंक का पूर्ण स्वामित्व आर्यसमाजी सदस्यों के हाथ में चला गया था। स्वामी दयानन्द ने स्वदेशी का जिस रूप में प्रतिपादन किया था उसमें केवल स्वदेश में निर्मित वस्तुओं का प्रयोग ही अभिप्रेत नहीं था, अपितु स्वदेशी संस्कृति भी उसके अन्तर्गत आती थी। अतः आर्यसमाज के एक वर्ग ने जहाँ गुरुकुल आन्दोलन के अन्तर्गत लड़कों और लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् गुरुकुल खोले वहाँ दूसरे वर्ग ने डी० ए० वी० आन्दोलन के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछा दिया। स्त्री-शिक्षा के लिए भी सर्वत्र बालिका विद्यालय खोले गये।

विचारणीय विषय यह है कि महर्षि ने अपने जीवन काल में जो आर्यसमाजें स्थापित की थीं वे सभी ऐसे स्थान थे जो उस समय अंग्रेज सरकार की सेना के मुख्य आवास-स्थल थे। उदाहरणार्थ बम्बई, मेरठ, सहारनपुर, लाहौर आदि। सत्यान्वेषी इतिहासकार यह परिणाम निकाल सकते हैं कि क्रान्ति का यह बीज अंग्रेजी सेना में प्रविष्ट उन भावुक हृदय भारतीय सिपाहियों के निकट डाला जाने पर शीघ्र ही उग कर मनोवांछित फल लाने में उपयुक्त सिद्ध हुआ। अर्थात् आर्यसमाज से

१. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १५३

स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानियों और क्रान्तिकारियों को पूर्ण प्रेरणा प्राप्त हुई।

दयानन्द द्वारा गोरक्षा का नारा बुलन्द करना भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि इसी प्रश्न को मुख्यता देकर १८५७ के मंगल पाण्डे, तात्या टोपे, नाना साहब पेशवा, रानी लक्ष्मीबाई, वीर कुंवर सिंह आदि के द्वारा अंग्रेज की छाती पर दागी गई गोलियों की सनसनाहट अभी विलीन भी न होने पाई थी कि सिक्खों के एक सम्प्रदाय नामधारियों के गुरुबाबा रामसिंह के नेतृत्व में लगभग दो सौ कूका वीरों ने गोरक्षा के प्रश्न पर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। दयानन्द ने न केवल गोरक्षा के हक में आवाज उठाई बल्कि गोहत्या का सारा उत्तरदायित्व उस विदेशी सरकार पर डालकर उसे रुकवाने के लिए हस्ताक्षर का अभियान शुरू करके देश की जनता में संगठन एवं जागृति का वातावरण भी उत्पन्न कर दिया था।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस शनैः-शनैः अहिंसात्मक रीति से देश को आजाद करवाने वालों की संस्था के रूप में परिणत होती चली गयी। यद्यपि आर्यसमाज संस्थागत रूप से प्रचलित सक्रिय राजनीति के पक्ष में नहीं था फिर भी राजनीति में रुचि रखने वाले आर्यसमाजी कांग्रेस में शामिल हो गये। कांग्रेस में ऐसे लोगों का बहुमत था। स्वामी श्रद्धानन्द, आर्य संन्यासी भवानीदयाल और पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय आदि लोग आर्यसमाज के आन्दोलन से जुडे हुए थे।

भारत के स्वाधीतना आन्दोलन में क्रांतिकारियों के योगदान को विस्मृत करना घोर कृतघ्नता होगी। श्यामकृष्ण वर्मा क्रान्तिकारी आन्दोलन के जनक थे। ये स्वामी दयानन्द के प्रिय शिष्य थे। यूरोप में इन्होंने होमरूल सोसायटी की स्थापना की थी। उक्त सोसायटी द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों को जो अंग्रेजों की नौकरी नहीं करने का वचन देते थे, उन्हें छात्रवृति प्रदान की जाती थी। स्वातन्त्र्य-वीर सावरकर और लाला हरदयाल ने उक्त छात्रवृत्ति प्राप्त कर क्रान्तिकारी आन्दोलन को नयी दिशा प्रदान की। भाई परमानन्द और श्री बालमुकुन्दजी लाला हरदयाल के साथी थे। शहीद भगतसिंह स्वयं व उनके पिता श्री किशन सिंह और उनके चाचा श्री अजितसिंह भी आर्यसमाज से प्रभावित थे। आर्यसमाजी मदनलाल ढ़ींगरा, पं० रामप्रसाद बिस्मिल, राजा महेन्द्र प्रताप, पं० गेन्दालाल दीक्षित, मास्टर अमीचन्द आदि क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े थे। आर्यसमाज ने आजाद हिन्द फौज पर मुकदमा चलाने का विरोध किया था।

हैदराबाद में जब वहाँ का शासक निजाम अपनी बहुसंख्यक प्रजा की धार्मिक स्वतंत्रता का खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन कर रहा था तब आर्यसमाज के १०५६६ (दस

हजार पाँच सौ छियानवें) सत्याग्रहियों ने सन् १६३६ में कारागार की यात्रा और ३६ सत्याग्रहियों ने अपनी आत्माहुति देकर निजाम को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने ३० सितम्बर १६८५ को एक आदेश द्वारा हैदराबाद में आर्यसमाज के सत्याग्रह को स्वतंत्रता आन्दोलन मानकर उसके जीवित सत्याग्रहियों को पेंशन योजना के अन्तर्गत पेंशन देना स्वीकार किया है।

स्वामी दयानन्द जी के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन का कार्य :

स्वामी श्रद्धानन्द ने पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्रीय आन्दोलन में जिस रूप से मदद की उसका वर्णन निम्न भागों में विभक्त करके किया जा रहा है-

राजभक्ति

स्वामी दयानन्द जी की पत्रकारिता में प्रारम्भ में तो अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति ही प्रदर्शित होती है। सम्वत् १६६४ में सम्राट् एडवर्ड के जन्म दिन पर सरकार को आर्यसमाज की ओर से धन्यवाद दिया गया था, जिसकी कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने आलोचना भी की थी। उसको ठीक बताते हुए महात्मा मुंशीराम ने लिखा था-

"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेंट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमेंट की रक्षा का लाभ उठाते हैं, उसके लिए साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिए। यदि ब्रिटिश-प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं, तो कुछ कर्त्तव्य भी हैं। भारतवर्ष के आर्यसमाजों को एकमत होकर गवर्नमेंट के धन्यवाद के लिए एक दिन नियत करना चाहिए।"[1]

देहली दरबार के समय सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके **'सम्राट् तुम यहीं रहो'** के शीर्षक से लिखा गया प्रचारक का मुख्य लेख आपकी अगाध राजभक्ति का जीता जागता चित्र था। चरित्र नायक की राजभक्ति में सचाई थी। सन् १६०१ से १६१२ तक स्वामी जी की ही नहीं बल्कि अनेक आर्यों की अंग्रेजी राज के साथ निष्ठा थी। बाद में जाकर यह मोह उनका भंग हुआ। चरित्र नायक की राजनीतिक आत्मा का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो ? अधिकार! अधिकार !! अधिकार !!! हा ! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय से शिक्षा प्राप्त की

१. मुंशीराम, संदर्भांकित-स्वामी श्रद्धानन्द, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ४६६

थी ? क्या तुमने कर्त्तव्य कभी सुना नहीं ? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो ? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम ? यहाँ धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से 'सकामता' की गन्ध आती है। विषय वासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस 'अधिकार' की वासना को अपने हृदय से नोंच कर फेंक दो। निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़ कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है ? शब्दों पर क्यों झगड़ा करते हो ? क्यों न स्वराज्य-प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने में लगो ? जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया हुआ स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख तथा शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या पाँच पुरुष भी उसके पीछे चलने वाले निकलेंगे ? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य-प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो।"[१]

स्वामी श्रद्धानन्द बहुत अच्छे शब्द-शिल्पी भी थे, वे एक-एक शब्द को चुनकर रखते थे, उपर्युक्त अवतरण में **'दुःशासन'** शब्द का बड़ा सटीक प्रयोग किया गया है। जहाँ 'दुःशासन' कौरव-नरेश दुर्योधन के भाई का बोध कराता है, वहीं वह अंग्रेजों के दुःशासन अर्थात् बुरे शासन की ओर भी इंगित करता है।

ये विचार सम्वत् १९६४-६५ में प्रकट किये थे। जिस अग्रणी या महात्मा के आगे आने की आवश्यकता ऊपर के विचारों में कही गयी थी, गांधी जी ने उसको पूरा किया और गांधी जी का व्यक्तित्व ही स्वामी जी को राजद्रोही-सत्याग्रही के रूप में सार्वजनिक-राजनीतिक-जीवन में खींच लाया।

राजद्रोही–सत्याग्रही

स्वामी श्रद्धानन्द जी का परिचय महात्मा गांधी के साथ पत्रों के माध्यम से पहले ही हो गया था। स्वामी जी के गांधी के साथ केवल विचार ही नहीं मिलते थे अपितु वृत्ति भी बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। यह सौभाग्य ही कहा जा सकता है कि दोनों के बीच में आकर्षण पैदा करने वाली परिस्थिति भी पैदा हो गई। यूरोप के महायुद्ध की सेवाओं का पुरस्कार पाने की आशा में बैठे हुए देश को रोलेट एक्ट का पुरस्कार प्राप्त हुआ। सारे देश में भयंकर और ठोस आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। स्वामी जी ने सन् १९१९ ई० से दिल्ली में रहने लगे थे। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व और स्वामी जी के तत्त्वावधान में निकलने वाले देहली के दैनिक 'विजय' ने उस

१. मुंशीराम, संदर्भांकित–स्वामी श्रद्धानन्द, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ४७२

आन्दोलन में प्राण फूँक दिया। ७ मार्च, सन् १९१९ को सत्याग्रह की तैयारी के लिए पहली सार्वजनिक सभा हुई। लगभग १८ हजार की उपस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द जी पहली बार राजनीतिक मंच पर खड़े हुए। आपने सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए लोगों को बताया कि यह आन्दोलन राजनीतिक की अपेक्षा अधिक धार्मिक है। देहली के पण्डित रामचन्द्र जी महोपदेशक सरीखे कट्टर आर्यसमाजी भी स्वामी जी के प्रभाव से राजनीति की ओर खिंच आये। सत्याग्रह आन्दोलन को सफल बनाने के लिए स्वामी जी ने अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिए। आपके व्याख्यानों के प्रभाव को देखकर अंग्रेज अधिकारियों की भी नींद हराम होने लगी थी। स्वामी जी का विद्रोह उनकी लेखनी द्वारा लिखे गये सम्पादकीय लेखों से प्रकट होने लगा था। उनके द्वारा 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखे गये लेख इस बात के साक्षी हैं।

बेगार की आसुरी प्रथा दूर होनी चाहिए :

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने बेगार की प्रथा को आसुरी बताया। इस प्रथा पर उन्हें बहुत दुःख होता था। उनका मानना था कि वैदिक वाङ्मय में कहीं भी इस बेगार की प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। न जाने यह प्रथा कहाँ से पनप गयी। वर्तमान में भी यह प्रथा कम होने के बजाय और बढ़ती ही जा रही है। भारत में जब अंग्रेजों का शासन हुआ तब भी यह प्रथा थी। अंग्रेजों के सम्बन्ध में लोगों की धारणा है कि ये लोग स्वतंत्रता के पोषक हैं। परन्तु स्वामी जी का कथन था कि वे लोग भी स्वार्थी होकर इसका फायदा उठा रहे हैं। यह प्रथा कम होने के बजाय आज बढ़ रही है। अंग्रेज भी आज इसका फायदा उठा रहे हैं।

स्वतंत्र जातियों की माता होते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन ने इस आसुरी प्रथा को जड़मूल से न खोया प्रत्युत, इसको अपने संरक्षण में ले लिया। हम बंगाल के आदि ब्रिटिश शासकों के विषय में पढ़ते हैं कि जिन ग्रामों में से वे पालकी पर चढ़कर निकलते थे, उनके डर के मारे वे ग्राम मनुष्यों से खाली होकर सुनसान जंगल की तरह हो जाते थे।[१]

बेगारी की इस प्रथा ने मनुष्यों को ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों से वंचित ही नहीं किया था अपितु उनका पशुओं से भी बदतर जीवन बना दिया। सदाचार की दृष्टि से भी वे पतित हो रहे थे। इस भयावह एवं डरावनी प्रथा को दूर करने के लिए स्वामी जी ने अथक प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो पत्र-व्यवहार अधिकारी वर्ग से किया था उसका नमूना भी द्रष्टव्य है–

---

१. श्रद्धा, २ जुलाई १९२०, पृ० ३

"गुड़गांव के जिला साहब के नाम मेरा पत्र—

दिल्ली २७ मार्च १६१६

महाशय !

जिन्हें भूल से अछूत कहते हैं अपने देश में उनकी धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति को ऊँचा करने के लिए आपके अधीन जिले के कुछ चमारों के जो परिवार रहते हैं उन्हें देहली तथा इन्द्रप्रस्थ की अछूतोद्धार सभाओं ने बराबर का दर्जा दिया है। इन चमार परिवारों को पुलिस और तहसील सदैव बेगार के काम के लिए तंग करती रहती है। ऐसी ही एक घटना बल्लभगढ़ की तहसील में हुई वहाँ के चपरासियों ने गाँव वालों को मारा और तहसीलदार ने गाली दी। जिससे उन गाँव वालों को बाधित होना पड़ा कि तहसीलदार का दाना दलनें और पुलिस थाने पर विटिनरी सर्जन का सामान उठाकर ले जाने के लिए चमार मर्द और औरतों का किराया दें।"[1]

इस समाचार को स्वामी जी ने दिल्ली के हिन्दी दैनिक पत्र 'विजय' में छापा था। इस पत्र की एक प्रति सरकारी अफसर के पास भेजकर कहा था कि इस बेगारी प्रथा के लिए आप जिम्मेदार हैं।

स्वामी जी के आन्दोलन से पंजाब में तो सरकार ने बेगार के काम पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उन्होंने भी लोगों के धैर्य को बाँधते हुए उनसे आग्रह किया कि काम न करें। शोषित लोगों में इससे जागृति हुई और वे जवाब देने के लिए तैयार हो गये।

गोरक्षा :

गोरक्षा का मुद्दा उठाकर स्वामी श्रद्धानन्द समस्त हिन्दू जाति को एक करना चाहते थे। साथ ही भारत जैसे कृषि प्रधान देश में उसकी आवश्यकता भी थी। इसलिए गायों की रक्षा बहुत आवश्यक थी। गोरक्षा आन्दोलन को उग्र रूप देने के लिए उन्होंने सम्राट् के राज्याभिषेक के समय को चुना। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सन् १६११ ई० में गोरक्षा-विषयक क्रोड़ पत्र छपवाये। सभी देशवासियों को कहा गया था कि इस पर अपने तथा अन्यों के हस्ताक्षर कराकर भेज दें। क्रोड़पत्र की भाषा इस प्रकार है—

"जिसमें सभी देशवासियों से कहा गया था कि भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ पर गाय की बड़ी भारी आवश्यकता है। जो क्रोड़पत्र आपके पास भेजे जा रहे हैं उन पर आप अपने तथा अन्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर जस्सावाला के पास भेज दें।"[2]

---

१. श्रद्धा, २ जुलाई, १६२०, पृ० ३

२. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, २८ जून, १६११ पृ० ५

क्रोड़ पत्र का विरोध करने वालों को स्वामी जी ने यह नसीहत दी थी–

"मैं यह बात स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि अपने को भारत का हितैषी कहने वाला व्यक्ति गौरक्षा प्रार्थना पत्र का विरोध करेगा।"[1]

जो लोग यह कहते हैं कि गोवध से भारत का पतन नहीं हो रहा है और न ही यहाँ के लोगों का भोजन छिन रहा है। गोवध से कोई हानि नहीं है। ऐसा सोचने वाले वास्तव में तीसरी आँख के अन्धे हैं। महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित पुस्तक 'गोकरुणानिधि' यदि उन्होंने पढ़ी होती तो शायद उनका यह भ्रम दूर हो जाता। गो जाति आर्य जाति की सदा से ही जीवनदात्री रही है। महर्षि दयानन्द ने गोकरुणानिधि में लिखा है–

"तथापि जितना उपकार गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है उतना भैंसों के दूध और भैंसों से नहीं क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्धक आदि गुण गाय के दूध में होते हैं उतने भैंस आदि में नहीं हो सकते, इसलिए आर्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।"[2]

गोवध से होने वाली हानि का चित्रण राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है–

'हे कृषिप्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा !
होकर रसा यह नीरसा अब हो गई है कर्कसा ।
अच्छी उपज होती नहीं है, भूमि बहु परती पड़ी ।
गो-वंश का वध ही यहाँ है याद आता हर घड़ी ।।[3]

एंग्लो इण्डियन पत्र 'पायोनियर' में सम्पादक महोदय ने गोरक्षा-विषयक प्रार्थनापत्र के विरोध में कुछ तर्क दिये थे जिनका समाधान स्वामी जी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया था।

१. आक्षेप :

'पायोनियर' के सम्पादक ने प्रथम आक्षेप लगाया था कि राज्याभिषेक के समय गोवध को रोकना अनुचित होगा क्योंकि यह कार्य भारतीय सेना को अखरेगा। इसलिए ऐसे अवसर पर ऐसे कार्यों को किया जाय जिनसे सारी प्रजा प्रसन्न हो।

समाधान :

स्वामी जी लिखते हैं कि भारतीय सेना के तो नाराज होने का प्रश्न ही पैदा नहीं

---

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, २८ जून १६११, पृ० ५

२. गोकरुणानिधि, महर्षि दयानन्द, पृ० ४

३. भारत-भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६८

होता क्योंकि सेना को तो मांस खाने से मतलब है। वे भारतीय गऊओं का मांस ही खायेंगे ऐसा नहीं है। जब आस्ट्रेलिया से बना बनाया मांस आ जाया करेगा तो उन्हें नाराज होने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। दूसरी बात वे यह भी कहते हैं कि राज्याभिषेक के समय ही एक को लाभ और दूसरे को हानि न पहुँचाने की बात सोचनी चाहिए अपितु हर समय सबके हित का ध्यान रखना चाहिए।

२. आक्षेप :

भारतवर्ष में वे गाय काटी जाती हैं जो बीमार या बूढ़ी होती हैं। ऐसी गायों को किसान बेच देते हैं।

समाधान :

यह आक्षेप तो ऐसा ही हुआ जैसे किसी के घर में चोरी हो जाय और वह चोरी को न रोके तो इससे सिद्ध होता है कि उसके पास बहुत-सा फिजूल रुपया है, जिसकी चोरी होने से कोई नुकसान नहीं है। किसानों का गऊ बेचने का कारण बीमार या बूढ़ी होना नहीं बल्कि उन्हें जहाँ से धन अधिक मिलता है, वे उसे बेच देते हैं। भारतवासियों के पास इतना धन नहीं कि वे गाय आदि खरीद सके–

"जितनी ब्रिटिश सेना भारतवर्ष में है उसका पेट तो गोमांस से अवश्य ही भरा जाना है। गऊओं की जो कीमत होगी उस पर वे खरीदी जायेंगी।"[1]

३. आक्षेप :

जब गोरक्षा के प्रार्थनापत्र पर स्वयंसेवक जायेगे तो दंगा-फसाद होने का डर बना रहेगा।

समाधान :

गोरक्षा के स्वयंसेवकों के प्रयत्नों से शान्ति भंग न होगी परन्तु 'पायोनियर' के सम्पादक महोदय ने यह नोट देकर अवश्य चिंगारी फूँक दी। 'पायोनियर' को अपना कथन पूरा होता न दिखाई दिया तो वह अशान्ति फैलाने का प्रयत्न अवश्य करेगा। ये वास्तव में सरकार के शत्रु हैं–

"एंग्लो इण्डियन पत्र सरकार के अमृत मुँहे शत्रु हैं। भारतवर्ष में अशान्ति फैलाने में जितना इनका हिस्सा है शायद ही किसी का हो।"[2]

पूर्वी एवं पश्चिमी सभ्यता :

पूवी एवं पश्चिमी सभ्यता का टकराव अकसर होता आया है। इन दोनों में

१. सद्धर्म प्रचारक, २८ जून, १६११, पृ० ६

२. वही

टकराव होने की भी संभावना अकसर बनी रहती हैं। स्वामी जी के समय भी यही स्थिति थी। दोनों सभ्यताओं के लोग अपनी-अपनी सभ्यता के गुण गाने की कोशिश करते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी पूर्वी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता में बड़ा भारी अन्तर मानते हैं। पूर्वी सभ्यता अपने में विशिष्ट गुणों को संजोए हुए हैं। नम्रता तो इसकी रग-रग में भरी हुई है। अपने विचारों में मस्त रहती है। बाह्य आक्रमणों को भी धैर्य पूर्वक सहन करती है। सभी को अपने में आत्मसात् करने की भी भावना इसके अन्दर है। ये सारे के सारे गुण पूर्वी सभ्यता के वैशिष्ट्य को जतलाते हैं।

पश्चिमी सभ्यता में इन सभी गुणों का अभाव दृष्टिगोचर होता है। यह सभ्यता अपनी विजय की लालसा में मस्त है। राजनैतिक प्रधानता के कारण गर्व में चूर अपने दल-बल सहित खड़ी है।

पाश्चात्य विद्वान अपनी सभ्यता को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए कहते हैं, कि पूर्व अनेक धर्म एवं महान् व्यक्तियों के देने वाला अवश्य रहा है। परन्तु ये सब सभ्यता के कारण थे नहीं। सभ्यता तो अलग ही है जो पूर्व में पश्चिम से आयी। सभ्यता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है। एक विद्वान कहता है कि प्राकृतिक उन्नति का नाम सभ्यता है। दूसरा कहता है कि समाज का व्यक्तियों पर अधिकार बढ़ जाना सभ्यता है। तीसरा धनदौलत कमाकर ऐश्वर्य के साधन जुटाने को सभ्यता मानता है।

जिन लोगों को वस्तुतः सभ्यता का ही नहीं पता कि सभ्यता किस कला का नाम है, तो ऐसे में सभ्यता को पश्चिम से पूर्व में आया हुआ बताना व्यर्थ है; जिनको जितना ज्ञान है उसी स्तर की बात करता है। ऐसी ही सभ्यता में पला एक बैन्जामिन दार्शनिक अपनी सभ्यता के गर्व में चूर होकर कहता है–

"दर्शन की दृष्टि से सभ्यता की उन्नति के लिए आवश्यक है कि पश्चिमी सब देशों को जीतकर अपने वश में कर लेवें। क्योंकि सिवा उनके प्रकृति के दिये वरों से पूरा-पूरा लाभ उठाने वाला कोई नहीं है।"[1]

वास्तव में इन पंक्तियों में अहंकार की पूर्णरूपेण गन्ध आती है। स्वामी जी ने अपनी लेखनी से इसके जवाब में लिखा कि आर्यों का भी कभी सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था। समय का फेर है, बदलता रहता है। परिवर्तनता संसार का नियम है। जो आज विजयी है वह कल पराजित भी हो सकता है। इसलिए विजय पर गर्व करना

१. वैन्जामिन, संदर्भांकित–सद्धर्म प्रचारक, २१ जुन १६११, पृ० ५

अपनी निर्बलता दिखाना है। हमारी पूर्वी सभ्यता स्थिर है भले ही उस पर अनेक हमले हुए हों। वह हमेशा बनी रहेगी–

"हमारी पूर्वी सभ्यता को निर्बल एवं निरर्थक समझना बड़ी भारी भूल है। हमारी सभ्यता कच्चे अवयवों से नहीं बनी बल्कि हिमालय की चोटी की तरह स्थिर है। पूर्वी सभ्यता दृढ़ और स्थायी है जबकि पश्चिमी सभ्यता चञ्चल है। पूर्वी सभ्यता आध्यात्मिक है जबकि पश्चिमी सभ्यता प्राकृतिक है। पूर्वी सभ्यता नम्र और उदार है जबकि पश्चिमी सभ्यता गर्वित है। केवल दो सौ साल की उत्कृष्टता से ही अपने को महान् समझना भूल है, हमारी सभ्यता तो हजारों साल तक विजय से अपना मस्तक ऊँचा रख चुकी है।"[1]

स्वामी जी ने लोगों को उद्‌बोधित किया कि हे भारतवासियों निराश मत होओ। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में अपनी महान् सभ्यता को न भूलो। आर्यों के अन्दर प्राण फूँकने वाले शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि शीघ्र ही वह स्थान प्राप्त होगा जो मनु महाराज के समय था–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[2]

अर्थात्–इसी ब्रह्मावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों के सान्निध्य से पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य अपने-अपने आचरण अर्थात् कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।

इस प्रकार पूर्वी सभ्यता का पश्चिमी सभ्यता से श्रेष्ठ होना सिद्ध होता है।

३. असहयोग आन्दोलन :

'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से असहयोग आन्दोलन को तीव्र बनाने के लिए स्वामी जी ने जो लेख लिखे थे उनका यहाँ ब्यौरा दिया जा रहा है।

'अपनों के साथ सहयोग करते तो आज असहयोग की शरण न लेनी पड़ती'–नामक शीर्षक से यह लेख लिखा था। सन् १९२० के आस-पास जितने भी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलन हुए उन सबका अगुआ आर्यसमाज ही था। इससे पहले भी आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द व अनेक देश के वीरों ने स्वतंत्रता के लिए आवाज उठायी लेकिन किसी ने सहयोग नहीं किया। असहयोग आन्दोलन को तेज करने के लिए ऐसे महसूस होने वाले शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे लोगों को लगे कि पहले तो अपनो का साथ नहीं दिया यदि अब भी न दिया

---

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक २१ जून १९११, पृ० ७
२. मनु महाराज संदर्भांकित – सद्धर्म प्रचारक, २१ जून १९११, पृ० ७

तो इससे भी भयानक स्थिति हो सकती है ।

महात्मा गांधी काफी समय बीतने के बाद हर क्षेत्र में स्वाधीनता की बात करने लगे हैं । महर्षि दयानन्द ने बहुत पहले लिख दिया था–

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है । अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी सुखदायक नहीं है ।"[१]

फिर भी स्वामी दयानन्द की तरफ किसी ने ध्यान नहीं दिया और न ही सहयोग किया । बालक-बालिकाओं की शिक्षा अंग्रेजी राज्य के संरक्षण से अलग हो । उनकी शिक्षा के लिए पृथक् संस्थाएँ खोली जायें । अपनी पंचायतों में ही सभी झगड़ों का निबटारा कर लिया जाय । कोई भी झगड़ा अंग्रेजी अदालतों में न जाय बल्कि अपने ही न्यायालयों में निबटारा कर लिया जाय । ये सब बातें महर्षि दयानन्द ने बहुत पहले लिख दी थी । परन्तु अपनों ने साथ नहीं दिया था । आज फिर महात्मा गांधी उन्हीं बातों को दोहरा रहे हैं । जिसके लिए असहयोग जरूरी हो गया है ।

असहयोग आन्दोलन के लिए उन्होंने अपनी वकालत को भी छोड़ दिया । उनके हृदय के अन्दर एक वेदना-सी उठी कि मैं किसी न किसी रूप में अंग्रेजों की मदद कर रहा हूँ ।

"वकालत का काम करते हुए मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि मैं ब्रिटिश अदालतों को अन्याय करने में सहायता दे रहा हूँ और उसी समय मैंने वकालत के काम को तिलांजलि दे दी थी ।"[२]

सहयोग न करने की बात महर्षि दयानन्द तक ही सीमित न थी बल्कि स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द जी भी इस बात से जूझ रहे थे । वे गुरुकुलीय शिक्षा को पुनर्जीवित करना चाहते थे । जिसकी तरफ स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त किसी का ध्यान नहीं गया था । पाश्चात्य विषभरी शिक्षा से अपने देश के बच्चों को बचाने का यही उपाय था। परन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने इस क्षेत्र में काम करना प्रारम्भ किया पर किसी ने साथ न दिया ।

गुलामी से बढ़कर और कोई असह्य वस्तु नहीं होती–

"गुलामी में जीना न मरने से कम है ।
यों ही जिन्दगी का गुमाँ है, भरम है ।।"[३]

---

१. महर्षि दयानन्द, संदर्भांकित – श्रद्धा, २४ सितम्बर १६२०, पृ० ३

२. श्रद्धा, २४ सितम्बर १६२०, पृ० ३

३. स्वामी नारायणानन्द 'अख्तर' सन्दर्भांकित–साप्ताहिक प्रताप, १२ नवम्बर १६५६, पृ० ३

पराधीनता में होते हुए सपने में भी सुख की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिए इन दुर्दिनों को दूर करने के लिए हमें हर तरफ से साथ देना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द ने पराधीनता को मिटाने के लिए अंग्रेजों के साथ असहयोग करने की पुरजोर अपील की थी।

असहयोग का साधन सहयोग है :

असहयोग का साधन सहयोग है। एक तरफ असहयोग करना है तो दूसरी तरफ सहयोग करना है। अंग्रेजी राज्य का साथ देना छोड़ना है तो दूसरी तरफ देशप्रेमी भारतीयों का साथ देना है। यही असहयोग का साधन सहयोग है। किसी विपरीत लहर का सामना करने के लिए बड़ी भारी आवश्यकता सहयोग की है। जब देश को स्वतंत्र कराने की बात ठान ही ली है तो सभी को एक मिलकर काम करना चाहिए। जाति-पांति भेद-भाव भूल जाना चाहिए। जैसे चलती हवा के विरुद्ध चलने में अपने अंगों व वस्त्रों को सँभालना अति आवश्यक होता है। एकजुट होकर ही सफलता मिल सकती है–

"यदि तुम दूसरे पहलवान को कुश्ती में गिराना चाहते हो, तो पहले अपने सब अवयवों को एक-दूसरे पर सहायक बनाना होगा। यह नहीं हो सकता कि सिर-पैर की सहायता न करे, भुजा गले की रक्षा के लिए न जाय और हाथ कमर छुड़ाने के लिए न लपके, और दूसरे पहलवान को भूमि पर पटक दिया जाय। विरोधी शक्तियों का सामना तभी हो सकता है जब शरीर का अंग-प्रत्यंग एक-दूसरे की सहायता कर कटिबद्ध हो, और सब ओर एक मिलकर हो जाय, सामान्य दशा में भी एक शरीर के सब अंगों को परस्पर सहायता की आवश्यकता होती है पर उसका अभाव खटकता तभी है जब किसी विरोधी शक्ति से टकरा पड़े। उस समय वही जी सकता है जिसका संगठन अच्छा है, जिसमें लड़ने की शक्ति है, जिसके अंग एक-दूसरे की मदद को भागते हैं।"[1]

स्वामी जी जहाँ इस बात से खुश थे कि राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिन्दू व मुसलमान एकजुट होकर काम कर रहे थे और उन्होंने अपने-अपने धार्मिक भेदभाव भुला दिये थे। वहीं पर स्वामी जी एक बात से बड़े दुःखी भी थे कि जिन्हें हम अछूत कहते हैं उनके लिए हमारे हृदय के किसी कोने में भी जगह नहीं है। अछूतों के प्रति जो हमारी उपेक्षा है उसका लाभ उठाकर ईसाई मिशनरी उन्हें धर्मान्तरित कर ईसाई बना रही है। ब्राह्मण वर्ग को अब तो अब्राह्मण का भेद-भाव

१. श्रद्धा, २७ अगस्त १९२०, पृ० ३

छोड़ देना चाहिए। सभी से सहयोग की आशा करते हुए देश के समस्त निवासियों से अपील करते हैं कि अपने-पराये, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेदभाव भुला दो–

"भारतवासियों में जो ऊँच-नीच, पराये-अपने और छूत-अछूत के विचार हैं उन्हें एक बार ही तिलांजलि दे दी जाय।"[1]

अतः असहयोग के आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अपनों का सहयोग करें।

कांग्रेस से विश्वास उठना :

स्वामी जी देशसेवा के लिए राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस के मंच से आये थे। कांग्रेस ही उस समय एक ऐसी पार्टी थी जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रही थी। इसलिए स्वामी श्रद्धानन्द जी महात्मा गांधी आदि से प्रभावित होकर इस मंच से देश हितार्थ जुड़ गये। परन्तु कार्य करते हुए स्वामी जी ने समाज के उपेक्षित वर्ग (दलितों) आदि के लिए कुछ सुधारों के प्रस्ताव कांग्रेस पार्टी के सामने रखे। परन्तु इन सब कार्यों को अनदेखा किया गया। इन सब बातों से खिन्न होकर स्वामी जी ने लोगों के सामने कांग्रेस के ठीक-ठीक रूप को 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से 'कांग्रेस क्या है' तथा 'कांग्रेस की सार्थकता' नामक शीर्षक से लेख लिखे थे।

कांग्रेस क्या है ?

कांग्रेस के तड़क-भड़क वाले विशाल अधिवेशनों को देखकर एक नया व्यक्ति यही सोचता था कि यह पार्टी जीती-जागती एवं काम करने वाली है। परन्तु स्वामी जी का मन्तव्य कि बाह्य आवरण एवं साज-सज्जा को देखकर ऐसा अनुमान लगाना गलत है। विशाल मंच, बड़ा पण्डाल तथा पण्डाल में रखी सैकड़ों कुर्सियाँ व सभामण्डप का वन्दे मातरम् के गीत से गुंजायमान होना इसके बाह्य रूप हैं। इन सब पर अधिक जोर दिया भी जाता है ताकि ये तड़क-भड़क लोगों को आकर्षित करें। यदि कांग्रेस के पुराने कार्यों पर एक दृष्टि डाली जाय तो पार्टी में बाह्य रूप के अलावा कुछ नजर नहीं आयेगा।

"वस्तुतः कांग्रेस इस समय एक प्राणरहित और जीवन रहित वस्तु है, इसके बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त कहीं भी सुन्दरता नहीं है, सारांश यह है कि शायद किसी के मन में भी कांग्रेस के लिए अब प्रेम भावना नहीं रह गई।"[2]

कांग्रेस प्रारम्भ से ही उन्नति करने वाले कार्यों को लेकर नहीं चली थी। सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति करना पार्टी के लक्ष्यों में नहीं रखा गया था। यह पार्टी

---

१. श्रद्धा, २७ अगस्त १६२०, पृ० ३

२. सद्धर्म प्रचारक, ३ जनवरी, १६१२, पृ० ५

केवल कुछ राजनैतिक मन्तव्यों को प्रकाशित कर सन्तोष कर लेती थी। उपरोक्त स्वामी जी द्वारा लिखित पंक्तियों से पार्टी के संकुचित लक्ष्यों का पता चलता है।

कांगेस में भाग लेने की स्वतंत्रता प्रारम्भ में सभी को समान रूप से थी। किसी पर किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था।अपनी इच्छा से व्यक्ति पार्टी में शामिल हो सकता था तथा स्वेच्छा से अलग से भी। सभी लोग इस इच्छानुसार प्रवेश एवं निष्कासन से खुश थे। परन्तु अब कांग्रेस पर एकाधिकार हो रहा है। कांग्रेस में प्रवेश करने के लिए क्रोड़ पत्र भरकर उस पर अपने हस्ताक्षर करने होते हैं। क्रोड़ पत्र भरने के बाद व्यक्ति कांग्रेस पार्टी में शामिल हो जाता हो यह भी नहीं। ऐसा भी नहीं है कि क्रोड़ के बन्धन के द्वारा कांग्रेस में आने वाले व्यक्तियों का चुनाव सर्वसाधारण के द्वारा होता हो बल्कि कुछ विशेष व्यक्तियों की सलाह पर किया जाता है। इसलिए एकाधिकार तो साफ नजर आता ही है। साथ में इस पार्टी को देशवासियों की पार्टी या राष्ट्रीय पार्टी कहना अनुचित है। स्वामी जी के शब्दों में–

"जब कांग्रेस देशवासियों की नहीं, राष्ट्र की नहीं, तब उसे भारतीय या राष्ट्रीय कहना या समझना बड़ी भारी भूल है।"[1]

कोई संस्था या पार्टी तभी अच्छी मानी जाती है जब उसमें देशवासियों या नागरिकों की भावनाओं का सम्मान हो। अन्यथा उनके काम के बिना तो पार्टियां वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष फैलाने का ही काम करती है। जो पार्टी अपने जनसमुदाय का सम्मान नहीं करती या उनकी बात नहीं मानती वहाँ पर आम जनता कम दिखाई देती है और नेता अधिक बैठे होते हैं। यही स्थिति कांग्रेस की भी हो गयी है।

"देशवासी किसी संस्था या सभा को तभी तक अच्छा मानते हैं जब उनके प्रस्तावों का मान हो, उनकी समस्याएँ सुनी जाती हों, उनके कथन पर ध्यान दिया जाता हो। अन्यथा काम के बिना तो पार्टियाँ वैमनस्य ही पैदा करती हैं। यही कारण है कि कांग्रेस की सभाओं में व्यक्तियों की अपेक्षा नेता अधिक बैठे दिखाई देते हैं।"[2]

कांग्रेस के प्रति लोगों का कितना झुकाव था ? लोग अपने नेता के सम्मान में इकट्ठे होते थे भी या नहीं। इस बात को स्वामी जी कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि कांग्रेस के नेताओं से एक आर्यसमाज के प्रधान का अधिक सम्मान होता था।

"मैं वहाँ जाकर क्या देखता हूँ जिस गाड़ी से मदनमोहन मालवीय जी कांग्रेस के

---

१. सद्धर्म प्रचारक, ३ जनवरी, १६१२, पृ० ५

२. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, ३ जनवरी, १६१२, पृ० ६

नेता को आना था उसी गाड़ी से आर्यसमाज के एक प्रधान कार्यकर्ता को भी आना था। परन्तु कांग्रेस अध्यक्ष के स्वागत में जितने लोग थे उससे कहीं अधिक (दुगुने) आर्यसमाजी के स्वागत में खड़े थे।''[१]

कांग्रेस के साथ जिस भावना से लोग जुड़े थे वे उनकी भावनाएँ पूरी नहीं हो रही। जन सामान्य का अलग होना फिर स्वाभाविक ही हो जाता है। इसलिए जब तक कोई उनके हित का सर्जनात्मक काम नहीं किया जाता तब तक सफलता नहीं मिल सकती।

''जब तक कोई संस्था या सभा देशहित, राष्ट्रहित या मनुष्य जाति हित का कोई भावात्मक देहधारी कार्य नहीं करती, तब तक वह जनप्रिय होने का न अधिकार रखती है और न हो सकती है।''[२]

इस प्रकार कांग्रेस से लोगों का विश्वास उठ जाना स्वाभाविक ही है।

कांग्रेस की सार्थकता :

एक कुशल वैद्य पहले रोग के कारण समझता है फिर उनके सुधार के उपाय बताता है। रोग को ठीक करने का यही सर्वोत्तम उपाय है। इसी में वैद्य की सफलता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए कांग्रेस के असफल होने के कारणों का जिक्र किया तथा उसमें पनपती हुई कुरीतियों को उजागर किया। किसी की बुराइयों को दर्शाना और उसके सुधार के लिए प्रयत्न न करना तो ईर्ष्या से भरा हुआ मन हो सकता है। परन्तु बुराइयों की तरफ इशारा करने के साथ-साथ सुधारात्मक दृष्टिकोण को अपनाने से उनके दयालुभाव का भी पता चलता है। जिस प्रकार कुम्हार बर्तन बनाते समय अन्दर से हाथ का सहारा देता है जो बाहर से उसे पीटकर व्यवस्थित करता है। यही स्थिति स्वामी जी की भी कांग्रेस की प्रति थी। वे नेताओं को वाणी में एकरूपता लाने की प्रेरणा देते थे। उनका निर्देश था कि कथनी व करनी में अन्तर होना सामान्य जनता के विश्वास को खो देगा अतः हमारे नेताओं को इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

''कथनी और करनी में एकरूपता होनी चाहिए। हमारे नेता वाणी के धनी हैं कर्म के धनी नहीं जबकि होना इसके विपरीत चाहिए था।''[३]

कांग्रेस को सफल बनाने के लिए तथा उसके उद्देश्यों की प्राप्ति में यदि कोई सहायक हो सकता है तो वह काम होगा सभी को शिक्षित करने से। हमारे देश में

---

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, ३ जनवरी, १६१२, पृ० ६

२. वही

३. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, ८ नवम्बर १६११, पृ० ६

एक वर्ग ऐसा है जो शिक्षा से बिल्कुल अछूता है। जब तक सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त नहीं करायी जायेगी तब तक सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक उत्थान नहीं हो सकता। कांग्रेस बड़े-बड़े प्रस्ताव लाती रहे लेकिन वे तब तक लाभकारी नहीं होंगे जब तक आम जनता को शिक्षित नहीं किया जायेगा। केवल नारे लगाने मात्र से कुछ नहीं होगा। इन कार्यों को देखकर ही अच्छे लोग कांग्रेस से अलग भी होने लगे थे।

"सर सैयद अहमद खाँ जैसे लोग भी इसी कारण अलग हुए थे कि ये नारे लगाते रहेंगे काम कुछ होगा नहीं। इसलिए अपने समय की कीमत पहचान कर उन्होंने एक ऐसा युवकों का संगठन तैयार किया जो अपने धर्म के लिए मर मिटने को हर समय तैयार रहते थे।"[१]

स्वामी जी ने कांग्रेसियों को सुझाव दिया था कि वे अब वाङ्मय चेष्टाएँ छोड़कर वास्तविक कर्मक्षेत्र को अपनाएँ। कथनी और करनी के अन्तर को दूर कर दें–

"कांग्रेस और कांग्रेस के ढंग की अन्य चेष्टाएँ, इस न्यूनता की पूर्ति में न आज तक सहायक हो सकी हैं, और न आगे हो सकेंगी। इसलिए अब समय है, जब इन वाङ्मय चेष्टाओं का त्याग करके, कर्ममय चेष्टाओं का प्रारम्भ किया जाय।"[२]

वस्तुतः स्वामी जी का जीवन कर्ममय था। वे जो कहते थे उसे करके दिखाते थे।

सांस्कृतिक एकता ही राष्ट्र की आधार भूमि है। अपने राष्ट्र को स्वाधीन कराने की दिशा में आर्य समाज का ठोस योगदान है। सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने स्वदेशी राज्य को सर्वोपरि उत्तम मानकर स्वराज्य का मन्त्र भारतीयों को दिया। इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी श्रद्धानन्द स्वदेशी आन्दोलनों की तरफ आकृष्ट हुए और महात्मा गांधी के सहयोग से राजभक्ति त्यागकर देशभक्ति अपनायी। उन्होंने गोरक्षा, अछूतोद्धार, बेगारी की प्रथा आदि कुप्रथाओं को मिटाने में ठोस कार्य किये। पूर्वी सभ्यता का प्रचार और पश्चिमी सभ्यता के प्रसार को रोका। राष्ट्रीय एकता के लिए कांग्रेस को समय-समय पर चेतावनी दी। इस प्रकार स्वामी जी ने देश को सबसे ऊपर मान कर काम किया।

***

---

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, ८ नवम्बर १६११, पृ० ६

२. वही

सप्तम अध्याय

आर्यसमाज का प्रचार और स्वामी श्रद्धानन्द जी की पत्रकारिता

आर्यसमाज :

'आर्यसमाज' शब्द 'आर्य' तथा 'समाज' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'आर्य' संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है, 'श्रेष्ठ'। जो व्यक्ति अपनी दृष्टि में, परमात्मा की दृष्टि में और समाज की दृष्टि में ऊँचा उठा होता है, वही सच्चे अर्थों में 'आर्य' होता है। 'आर्य' शब्द जाति, रंग, देश और काल की सीमाओं से परे है। 'समाज' का अर्थ है–मनुष्यों का व्यवस्थित समूह। मनुष्यों की अव्यवस्थित भीड़ को समाज नहीं कह सकते। इस प्रकार 'आर्यसमाज' का अर्थ है, श्रेष्ठ व्यक्तियों का समाज, जिसमें सम्मिलित होकर मनुष्य अच्छा और प्रगतिशील बनता है और दूसरों को अच्छा और प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करता है। आर्य के समक्ष यह लक्ष्य रहता है–

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'

अर्थात् हम सबको आर्य बनायें।

आर्यसमाज प्राणवान् संस्था है, जीवन ज्योति का पर्याय है, गांधी जी की दृष्टि से जहाँ-जहाँ आर्यसमाज हैं, वहाँ-वहाँ जीवन-ज्योति है। गांधी जी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में अपनी उक्त धारणा उस समय बनाई थी जब आर्य समाज भारतवर्ष में व्याप्त अनीति, अनाचार, बाह्याडम्बर और मत-मतान्तरों द्वारा व्याप्त भ्रान्तियों को निर्मूल करने में प्रयत्न-रत था।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ में बम्बई (अब मुम्बई) में की थी। यह एक विशिष्ट प्रकार का संगठन है। उसका मुख्य कार्य वेदों का प्रचार-प्रसार करना है। महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के दस नियमों में एक नियम यह भी रखा है कि **'वेद सब विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"** वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद और अथर्ववेद। वेद और आर्यसमाज का आधाराधेय सम्बन्ध है। आर्यसमाज के निर्माता महर्षि दयानन्द ही थे इसलिए आर्यसमाज की आधारशिला क्या है इस विषय पर उनके विचार ही अधिक समीचीन होंगे। सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास के अन्त में वेद विषय पर विचार करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है–

"वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्दादि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके, इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए और जो कोई किसी से पूछे तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं।"[1]

महर्षि दयानन्द ने वेद को ही जनता का मानने योग्य मत क्यों बतलाया ? क्या वह भी अन्यों की तरह मतवादी थे ? उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है–"जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है इसीलिए विद्वान आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मत वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।"[2]

सत्य की ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला महापुरुष कभी भी मताग्रही नहीं हो सकता। वेदों पर ऋषि की श्रद्धा का कारण यह नहीं था कि इन्हें हमारे पूर्वज मानते चले आ रहे हैं और यह भी नहीं था कि प्राचीन काल से स्वर सहित गाये जाते हैं। बल्कि उनकी श्रद्धा का कारण इनमें सत्यविद्यां निहित होने से था। महाभारत के युद्ध का कारण भी लोगों का वेदों पर विश्वास न होना था। 'सत्यार्थ प्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में स्पष्ट लिखा है–

"वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है।"[3]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश (सप्तम समुल्लास), महर्षि दयानन्द, पृ० १३७-१३८

२. वही, (भूमिका), पृ० २-३

३. सत्यार्थ प्रकाश (एकादश समुल्लास भूमिका), दयानन्द सरस्वती, पृ० १८६

जब तक वेदरूपी सूर्य का उदय रहा और उसका पूरा प्रकाश पड़ता रहा तब तक किसी भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता न थी, परन्तु महाभारत युद्ध के उठाये हुए बादलों की ओट में जब वैदिक सूर्य आ गया, उसी समय मनुष्यों को अपने लिये परिमित प्रकाशों की आवश्यकता हुई। जिस प्रकार रात्रि में अपनी योग्यता एवं शक्ति अनुसार मनुष्य दिया, लैम्प, गैस और विद्युत् के प्रकाश से काम लेता है, उसी प्रकार इस अन्धकार के समय में मनुष्य-समाज ने अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार मतों तथा सम्प्रदायों की बुनियाद डाली।

वेद का उच्च स्थान होने का समर्थन महर्षि दयानन्द ने ही नहीं किया, अपितु पाश्चात्य विद्वान भी इस बात का समर्थन करते हैं। फ्रांस के विद्वान लेखक लुई जेकॉलियट ने अपनी पुस्तक 'बाइबल इन इण्डिया' में वेद की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित की है–

"In point of authenticity, the Vedas have incontestible precedence over the most ancient records. These holy books which according to the Brahmans contain the revealed word of God, were honoured in India long before Persia, Asia minor, Egypt and Europe, were colonized or Inhabited."[1]

सर विलियम जोन्स ने भी ऐसी ही सम्मति प्रकट की है–

"We cannot refuse to the Vedas the honour of an antiquity the most distant."[2]

आर्यसमाज की मान्यता है कि चारों वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। राजाराम मोहन राय भी ऐसा ही मानते थे, परन्तु वह वेद ज्ञान के अथाह सागर में डुबकी न लगा पाए, उपनिषदों तक ही रहे। श्री अरविन्द की भी यही मान्यता है। आर्यसमाज की एतद्विषयक मान्यता कोई नवीन या कपोल-कल्पित नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने भी ढ़ाका में अपने एक अन्तिम व्याख्यान में यह सिद्धान्त स्वीकार किया था।

संक्षेप में आर्यसमाज की मान्यताएँ इस प्रकार हैं–

१. अनादि सत्ता :

ईश्वर, जीव और प्रकृत्ति तीन अनादि सत्ता हैं। इन तीनों की सामूहिक संज्ञा त्रैतवाद है, जिसकी सिद्धि निम्नलिखित वेद मंत्र के द्वारा होती है–

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ।।'[३]

१. लुई जेकॉलियट सन्दर्भांकित : स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, खण्ड-६, पृ० १०
२. सर विलियम जोन्स संदर्भांकित : स्वामी श्रद्धानन्द ग्रथावली (खण्ड ६), पृ० १०
३. –ऋग्वेद मं० १, सू० १६४, मं० २०

अर्थात् (द्वौ सुपर्णा) दो सुन्दर पक्षी (सयुजौ) जो सहयोगी हैं (सखायौ) और परस्पर मित्र हैं (समानम् वृक्षम्) एक ही वृक्ष के ऊपर (परिषस्वजाते) एक-दूसरे से लिपटे हुए स्थित हैं। (तयौः) इन दोनों में (अन्यः) एक (पिप्पलम्) इस वृक्ष के फल को (स्वादु अत्ति) मजे से खाता है, (अन्यः) और दूसरा पक्षी (अन्-अश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) अध्यक्षता का काम करता है।

इन तीनों अनादि सत्ताओं के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का मन्तव्य इस प्रकार है–

(क) ईश्वर–

"ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त है, जिसके गुण, कर्म और स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकर, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।"[१]

(ख) जीव :

महर्षि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में जीव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है–"जो इच्छा, द्वेष, सुख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है, उसी को जीव मानता हूँ।"[२] जीवात्माएँ अनेक हैं, और प्रत्येक जीवात्मा को अपने कर्म के अनुसार फल मिलता है। जीव नित्य चेतन और स्वतंत्र सत्ता है। हमारे शरीर का अन्त होता है आत्मा का अन्त नहीं होता।

(ग) प्रकृति :

सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है अर्थात् जिसके बिना कुछ न बन सके और जो स्वयं न बन सके। ईश्वर निमित्त कारण है। वही जीव के उपयोग के लिए उपादान कारण प्रकृति से सृष्टि की रचना करता है। प्रकृति जड़ है, आत्मा इसे चेतन बनाता है और उस पर शासन करता है। प्रकृति आत्मा के प्रयोग के लिए नाना प्रकार के भौतिक रूप ग्रहण किया करती है। प्रकृति का भोग करता हुआ जीव उसमें फँसता है।

२. मुक्ति :

'मुक्ति' का अर्थ है सब दुःखों से छूटकर बन्धन रहित, सर्वव्यापक ईश्वर और

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश, महषि दयानन्द, पृ० ४०५

२. वही

सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना। महर्षि दयानन्द का भी यही मन्तव्य है कि जीव सदा के लिए, अनन्त समय के लिए मुक्त नहीं होता। वह एक निश्चित अवधि तक परमेश्वर में व्यापय-व्यापक भाव से रहकर और मुक्त दशा के आनन्द का भोग कर पुनः जन्म-मरण के बन्धन में आता है–

"प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित है पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् निश्शेष हो जाना चाहिए।"

३. चार आश्रम :

हमारे ऋषि-महर्षियों ने मनुष्य के सामान्य जीवन की अवधि सौ वर्ष निर्धारित करते हुए वेदों के आधार पर उसे चार आश्रमों में बाँटा है जिसमें प्रत्येक आश्रम की आयु २५-२५ वर्ष है। वे आश्रम हैं–

(क) ब्रह्मचर्य, (ख) गृहस्थ, (ग) वानप्रस्थ, (घ) संन्यास।

४. चार वर्ण :

गुण-कर्मों की योग्यता से चार वर्ण माने गये हैं–

(क) ब्राह्मण, (ख) क्षत्रिय, (ग) वैश्य, (घ) शूद्र।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[२]

अर्थात् इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हो गया। इसके दोनों बाहु क्षत्रियमान लिये गये। इसकी वही दोनों जाँघें समझिए जो वैश्य हैं। दो पैरों से अर्थात् दो पैरों की कल्पना, भावना या उपमा से शूद्र उत्पन्न हो गया।

५. सोलह संस्कार :

संस्कार का शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ०' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है।

सामान्य रूप में संस्कार का अर्थ है किसी वस्तु के रूप को बदल कर उसे नया परिष्कृत रूप दे देना। वैदिक-संस्कृति में मानव-जीवन के लिए सोलह संस्कारों का विधान है। इसका अर्थ यह है कि जीवन में सोलह बार मानव को बदलने का, उसके

---

१. सत्यार्थ प्रकाश (नवम समुल्लास) महर्षि दयानन्द, पृ० २२६
२. यजुर्वेद अ० ३१, मं० ११

नव-निर्माण का प्रयत्न किया जाता है। जैसे सुनार अशुद्ध सोने को अग्नि में डालकर उसका संस्कार करता है, उसी प्रकार बालक को (उत्पन्न होते ही) संस्कारों की भट्टी में डालकर उसके दुर्गुणों को निकाल कर उसमें सद्गुण डालने का प्रयास किया जाता है। इसी प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में 'संस्कार' कहा गया है। चरक ऋषि के अनुसार संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनकी जगह सद्गुणों का आधान कर देने का नाम है। हमारे ऋषियों ने सोलह संस्कारों का विधान किया है; जो इस प्रकार हैं–

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म, ६. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन, १३. विवाह, १४. गृहस्थाश्रम, १५. वानप्रस्थ, १६. संन्यास।

६. कर्मफल सिद्धान्त :

कर्मफल के सम्बन्ध में महर्षि का मन्तव्य है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है और अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करता है। पर स्वतंत्र होते हुए भी जीव जो चाहे, नहीं कर सकता। स्वतंत्र वह इसीलिए है, क्योंकि शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि उसके अधीन हैं। जीव उनसे अपनी इच्छा व विवेक के अनुसार कार्य लेता है। क्यों कि जीव अपने कर्मों में स्वतंत्र है, इसी कारण उसे अपने कर्मों का, अपने किए पाप-पुण्य का फल प्राप्त होता है। यदि वह परमात्मा की प्रेरणा से या अधीनता में कार्य करे, तो उसे पाप व पुण्य न लगे। महर्षि दयानन्द के अनुसार–

"क्योंकि जैसे भृत्य, स्वामी और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होता, वैसे ही परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता में काम सिद्ध हो तो जीव को पाप-पुण्य न लगे। उस फल का भोगी परमेश्वर होवे। नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतंत्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिए जीव कर्म करने में स्वतंत्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतंत्र होता है।"[1]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १७७-७८

७. पुनर्जन्म :

जीवात्मा, अनादि, नित्य एवं अमर है। जिसे सामान्य भाषा में मृत्यु कहा जाता है, उसमें जीव अपने वर्तमान शरीर का परित्याग कर अपने कर्मों के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त कर लेता है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। इस विषय में महर्षि ने यह प्रश्न उठाकर कि यदि जन्म अनेकों हों अथवा पुनर्जन्म होता हो, तो पूर्वजन्म की बातों का स्मरण क्यों नहीं होता, इसका उत्तर इस प्रकार दिया है–

"जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं इसलिए स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्वजन्म की बात तो दूर रहने दीजिए, इसी देह में जब जीव गर्भ में था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जाग्रत वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व पाँचवें महीने के नवम दिन तुमने क्या किया था ? जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण में शंका करना केवल लड़कपन की बात है। और जो स्मरण नहीं होता है, इसी से जीव सुखी है। नहीं तो सब जनों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता।"[1]

८. पितृ तर्पण और श्राद्ध :

पौराणिक युग से वैदिक धर्म का जो स्वरूप चला आ रहा है उसमें पितरों के तर्पण और श्राद्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक लोग यह मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् पितरों का तर्पण तथा श्राद्ध किया जाना चाहिए। इसके लिए अनेकविध कर्म-काण्ड विहित हैं। मृत पूर्वजों या पितरों के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और दान-दक्षिणा दी जाती है। यह माना जाता है कि श्राद्ध के समय जो भोजन कराया जाता है और दान-दक्षिणा दी जाएगी, वह पितरों के पास पहुँच जाएगी और उससे वे तृप्ति का अनुभव करेंगे। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती को यह बात मान्य नहीं है। पितृ यज्ञ का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'उसके दो भेद हैं–एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध। उनमें से जिस कर्म को करके विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुख युक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है। तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिए। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं। क्योंकि

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, नवम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० २३४-३५

मृतकों का प्रत्यक्ष होना असंभव है। इसलिए उनकी सेवा नहीं हो सकती। तथा जो उनके लिए कोई पदार्थ दिया जाय, वह भी उनको नहीं मिल सकता। इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है। क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों के ही प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं।"[1]

६. यज्ञ :

यज्ञ का अर्थ है वह अनुष्ठान जिसमें कर्ता की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, शारीरिक, लौकिक और आध्यात्मिक अवस्था में सुधार हो। अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान और विद्वानों का संग करना यज्ञ कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं–

१. ब्रह्मयज्ञ, २. देवयज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. बलिवैश्वदेवयज्ञ ५. अतिथि यज्ञ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्यसमाज के प्रचार एवं प्रसार के लिए अपना तन-मन-धन सब-कुछ लगा दिया था। गुरुकुल की स्थापना करके ब्रह्मचर्य आश्रम का पुनरुद्धार एवं वैदिक (आर्ष) पद्धति की शिक्षा को जीवन्त किया ताकि यहाँ से शिक्षा प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी भविष्य में आर्यसमाज का प्रचार व प्रसार करें। अपने प्रचार को स्वामी जी ने उपदेशों तक ही सीमित न रखा बल्कि लेखनी के द्वारा भी यह पुनीत कार्य किया। उनके द्वारा प्रकाशित 'सद्धर्म प्रचारक' व 'श्रद्धा' में आर्य-समाज के सिद्धान्तों एवं धार्मिक चर्चाओं का ही जिक्र अधिक होता था। स्वामी जी ने पत्रिका को व्यवसाय की दृष्टि से नहीं निकाला था बल्कि उसके पीछे मिशनरी भावना अधिक थी। उन्होंने आर्यसमाज को गति देने के लिए अनेक सम्पादकीय विभिन्न शीर्षकों जैसे–'आर्यसमाज की आवश्यकता', 'आर्यसमाज की उन्नति क्यों बन्द है', 'गौतम बुद्ध तथा महर्षि दयानन्द' आदि के द्वारा चेतना जगायी। उन्होंने पत्र के माध्यम से आर्यसमाज को लोगों के घरों तक पहुँचाया।

आर्यसमाज की आवश्यकताएँ :

किसी भी संस्था में उतार-चढ़ाव तो आते रहते हैं। आर्यसमाज के बारे में भी ऐसा ही सुना जाने लगा कि आर्यसमाज की स्थिति अपने स्तर से गिर रही है। समाचार-पत्रों में छपा कि आर्यसमाजों की संख्या दिन-प्रतिदिन घट रही है और लोग आर्य सामाजिक पत्रों को पढ़ना पसन्द नहीं करते।

आर्यसमाज को इस दयनीय दशा से उबारने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका – महर्षि दयानन्द, पृ० २८६

'सद्धर्म प्रचारक' में दो प्रकार के साधन सुझाये–

१. साहित्य सम्बन्धी साधन।

२. साक्षात् समाज के हितेच्छुओं द्वारा आर्यसमाज का प्रचार।

उस समय के आर्यसमाजी :

लौकिक साहित्य का सामान्य रूप से जब हम अवलोकन करते हैं तो हमें वह निर्जीव-सा लगता है। उसमें प्राणवत्ता का नाम नहीं। जब सामाजिक साहित्य की यह दशा है तो सामाजिकों की यह हीन दशा होनी स्वाभाविक ही है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य अपने उत्पन्न करने वाले के भावों का दर्पण होता है और अन्य जनों के चित्तों पर विशेष प्रकार के भावों के अंकित करने का भी कारण होता है। साहित्य ने कई सोई जातियों को जगाया। साहित्य सामाजिक उन्नति का साधन है। इसलिए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्यसमाजी सत् साहित्य के सृजन को आर्य-समाज की उन्नति का साधक बताया और स्वयं भी इस दिशा में संलग्न हुए।

स्वामी जी कहते हैं कि आर्य पुरुषों ने साहित्य को सुधारने का कुछ प्रयत्न तो किया परन्तु गन्दे व अश्लील साहित्य को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। इस क्षेत्र में आर्यसमाजें मिलकर काम करें तो अधिक सफलता मिल सकती है।

पं० गुरुदत्त, लेखराम तथा आर्यसमाज के अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें से एक ने मुसलमानों को चुप कराने के लिए लिखे तो दूसरे ने केवल यूरोप निवासियों को वैदिक सिद्धान्तों को समझाने के लिए। एक धर्म जिज्ञासु के लिए पूर्ण जानकारी का मिलना कठिन हो जाता है। धर्म जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त करने के लिए उन्होंने सुझाव दिया–

''यदि समाज अपनी इच्छानुसार एक क्रम निश्चित करके विद्वानों से उसी क्रम के अनुसार सामाजिक सिद्धान्तों पर पुस्तकें लिखवाये तो बहुत लाभ की आशा हो सकती है।''[1]

सामाजिक साहित्य में दूसरी कमी महापुरुषों के चरित्रों का अभाव है। एक सेनापति अपनी सेना में जोश भरने के लिए उनके पूर्वजों की याद दिलाता है वैसे ही धर्म के क्षेत्र में सर्वस्व न्यौछावर करने वाले व्यक्तियों की कहानी लिखकर जन सामान्य को दी जाय। साहित्य का निर्माण करते हुए निम्न बातों का ध्यान भी रखें–

१. क्रमबद्ध सामाजिक सिद्धान्तों पर सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखवायें।

२. भाषा सरल एवं सहज हो।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, २ सितम्बर, १६०८, पृ० ४

३. इतिहास में महापुरुषों के चरित्र का वर्णन ठीक-ठीक हो ।[1]

स्वामी जी सन्तानों के चरित्र की शुद्धि पर अधिक बल देते थे–

"यदि समाज भारत के समस्त मतमतान्तरों को जर्जरित करके आर्य सन्तान के चरित्रों का संशोधान कर, उन्हें इन्द्रियों की ओर अन्य सामाजिक व नैतिक गुलाभी से छुड़ा सके तो संसार में वैदिक धर्म के प्रचार होने में अत्यन्त सहाय्य मिलेगा ।"[2]

अंग्रेजी में चरित्र के सम्बन्ध में एक कहावत है–

Wealth is lost nothing is lost.
Health is lost something is lost.
Character is lost everything is lost.

विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार की अपेक्षा स्वामी जी पहले अपने देश में ही प्रचार को अधिक हितकर मानते थे । क्योंकि वैदिक ज्ञान के बिना अच्छे चरित्र का निर्माण असम्भव है ।

आर्यसमाज की उन्नति क्यों बन्द है ? इस विषय में स्वामी श्रद्धानन्द जी का मन्तव्य है कि–

"आर्यसमाज की प्रगति अवरुद्ध होने में जहाँ एक कारण क्रमबद्ध एवं प्रेरणा दायक जीवनी साहित्य का अभाव है वहाँ पर सदाचार का अभाव एवं शिथिलता भी प्रगति को रोके हुए है ।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी के अनुसार समाज की प्रगति में बाधक कारण और उनका निवारण इस प्रकार है–

१. सदाचार का अभाव :

पृथिवी पर जगह व सभी सामान सीमित है । मनुष्य जिन वस्तुओं की इच्छा करता है वे सब सीमित हैं किन्तु मनुष्य की इच्छाएँ असीमित हैं । परिमित वस्तुओं से अपरिमित वस्तुओं की पूर्ति कैसे हो सकती हैं । इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता, यथा–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ।।[3]

अर्थात् कामनाओं का उपभोग करने से कामनाएँ शान्त नहीं होतीं । जिस प्रकार अग्नि में हवि डालने से अग्नि और भड़कती है, ऐसे ही कामनाओं का उपभोग करने

१. द्रष्टव्य – सद्धर्म प्रचारक, २ सितम्बर १६०८, पृ० ४
२. सद्धर्म प्रचारक, १६ सितम्बर १६०८, पृ० ३
३. संदर्भांकित सद्धर्म प्रचारक, १० मई, १६११, पृ० ५

से कामनाएँ और बढ़ती हैं। व्यक्ति बुढ़ापे तक भी वासना से तृप्त नहीं होता, बल्कि इसकी इच्छाएँ बढ़ती ही रहती हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है–

'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'

इच्छाओं का पूरा न होना मनुष्यों के आपसी झगडे का कारण है। जीवन के इस संग्राम में प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है और जिसके दो ही परिणाम सामने आते हैं। एक विजय और दूसरा पराजय। विजय की राह जीवन है और पराजय की राह मृत्यु है। जो जाति या समाज अपने को फलता-फूलता देखना चाहता है उसके लिए स्वामी जी ने दो बातें आवश्यक बतायी हैं–

"एक तो वह अपनी वर्तमान अवस्था में खूब पुष्टि करे। और दूसरी वह अपनी भावी सन्तान को इस योग्य बना देवे कि वह अपने समस्त प्रतिपक्षियों का सामना अच्छी प्रकार कर सके।"[१]

अपनी स्थापना के दिन से ही आर्यसमाज को अनेक विरोधों का सामना करना पड़ रहा है। परन्तु हमेशा विजय आर्यों की ही हुई। विजय के पीछे कार्यकर्ताओं का अदूषणीय आचार एवं अनुपमेय संस्था का हाथ है। जब विजय के इन दोनों कारणों का पता विरोधियों को लगा तो वे अपने सुधार में लग गये। आर्यों में विजय के कारण असावधानी आयी जिससे उन्होंने सदाचार का पालन एवं संस्था को मजबूत करने की बात छोड़ दी। इस बात का उल्लेख स्वामी जी ने इस प्रकार किया है–

"आर्यसमाज में सदाचार की वह महिमा अब नहीं रही जो पहले थे। आर्य-समाज के शत्रुओं की संख्या तथा शक्ति के बढ़ जाने से उनका सामना करने के लिए अधिक सदाचार की आवश्यकता थी किन्तु यहाँ तो सदाचार के कोष का दिवाला निकल रहा है।'[२]

२. संस्था की शिथिलता :

सदाचार के अभाव के साथ आर्य समाज की उन्नति अवरुद्ध होने में एक कारण संस्था की शिथिलता भी है।

आज तक किसी भी बड़े मजहब (धर्म) ने संस्था के बिना उन्नति नहीं की। बौद्ध धर्म की तीन प्रतिज्ञाओं में एक प्रतिज्ञा **'संघ शरणं गच्छामि'** है। जिसमें प्रत्येक भिक्षु को एक विशेष संस्था के सामने सिर झुकाना पड़ता था। ईसाई मत की भी एक विशेष संस्था थी। संस्था के कारण ही ईसाई मत खूब फला-फूला। संस्था के उत्कृष्ट होने से कई लाभ होते हैं–

१. सद्धर्म प्रचारक, १० मई, १६११, पृ० ६
२. वही, पृ० ६

(क) महान् कार्यों को करना :

जिस कार्य को एक या दस व्यक्ति मिलकर नहीं कर सकते हैं, संस्था उस काम को आसानी से कर सकती है। उपदेशकों को प्रचार के लिए देश-देशान्तर में भेजना और आर्यों की भावी सन्तान के लिए गुरुकुल आदि खोलना एक व्यक्ति से नहीं हो सकता बल्कि बड़ी संस्था ही इस काम को करने में सक्षम हो सकती है।

(ख) निरीक्षण :

समाज में रहने वाले व्यक्तियों तथा कार्यकर्ताओं पर नियंत्रण रखने का काम संस्था ही कर सकती है। एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। यदि व्यक्तियों तथा एक समाजरूपी व्यक्तियों का समय-समय पर निरीक्षण न किया जाय तो समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी।

(ग) स्थिरता देना :

मरने-जीने की जिस तरह प्रक्रिया चलती रहती है उसी तरह से एक शहर में समाज का निर्माण होता है और फिर नष्ट हो जाता है। संस्था ही केवल जीवित रहती है। सार्वदेशिक सभा व आर्य प्रतिनिधि सभाएँ ही जीवित रहती हैं। संस्था ही वैदिक धर्म के प्रचार और समाज को स्थिर रखने में सक्षम है।

(घ) सहायता देना :

जो व्यक्ति धर्म के लिए अपना सब-कुछ समर्पण करते हैं उनकी रक्षा भी संस्था करती है। यदि उठी हुई आँधी से बचना चाहते हो तो आर्यसमाज की संस्था को दृढ करो–आर्यसमाज में जब आपसी फूट और वैमनस्य बढ़ा तो स्थिति खतरनाक होती चली गयी। स्वामी जी ने फूट और वैमनस्य को आँधी की संज्ञा दी। जो लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर आँख और कान होते हुए न देखते हैं और न सुनते हैं। स्वार्थी लोगों का तो आँधी के प्रश्न को हल करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। ऐसे में फिर एक ही उपाय है जो स्वामी जी के शब्दों में द्रष्टव्य है–

''जब आँधी के शान्त होने का कोई उपाय दृष्टिगोचर न हो तो गृहपति का क्या कर्त्तव्य है ? जब झोपड़े ऐसी आँधी के सामने नहीं ठहर सकते तो क्या ऐसे पत्थर का स्थिर गृह नहीं बनाना चाहिए, जिस पर आँधी के थपेड़े भी कुछ असर न कर सकें ?''[1]

सम्वत् १६४६ से पहले आर्यसमाज में शान्ति तथा आनन्द का राज्य था। लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर यह आँधी 'घास पार्टी' तथा 'मांस पार्टी' के नाम से

१. सद्धर्म प्रचारक, २६ मई १६०६, पृ० ४

उभरी। उस समय कुछ लोगों ने कहा कि फूट तो अच्छी रही एक तो समाज की आमदनी बढ़ी और दूसरी समाज के सदस्यों की संख्या भी बढ़ी। परन्तु स्वामी जी इस आमदनी व सदस्यों की संख्या बढ़ने को उन्नति नहीं मानते थे। धर्म की उन्नति तथा अधर्म की अवनति की कसौटी धन तथा संख्या नहीं है। उपदेशक ही धर्मात्मा न हो बल्कि प्रत्येक सभासद धर्म मार्ग पर चले।

आर्यसमाज में आपसी कलह का प्रथम दुष्ट परिणाम तो यह हुआ कि जो समाज के डर से दुराचार करते हुए डरते थे वे खुले आम करने लगे थे। किसी भी दल के सदस्य से स्पष्टीकरण न माँगा जाता था क्योंकि वह अपनी पार्टी छोड़ कर दूसरी जगह न चला जाय।

दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि उपदेशकों के आचरणों पर भी कोई प्रतिबन्ध न रहा। जो उपदेशक दुराचार के कारण निकाले गये थे वे 'मांस पार्टी' ने रख लिये। इसी तरह दूसरी पार्टी वाले भी करते थे। इस तरह दुराचारियों पर अंकुश रखना कठिन हो गया। स्वामी जी का मानना है कि जहाँ अपनी फूट कमजोरी बनी वहाँ पर बाहर से भी प्रहार होने शुरू हुए। ईसाई भी आर्यसमाज के विरोधी बन गये। इस सम्बन्ध में 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता का कथन द्रष्टव्य है–

"दयानन्द के पंजाब आने के समय इस प्रान्त के सब अंग्रेजी पढ़े ईसाई होने को तैयार थे। स्वामी दयानन्द के इस सिंहनाद पर कि वेदों की शरण लो, सब ईसाई मत का पीछा छोड़ बैठे, इसलिए उस समय से आर्यसमाज ईसाइयों का जानी दुश्मन है।"[1]

मुसलमानों का दृष्टिकोण भी आर्यसमाज के प्रति अच्छा नहीं था। इसका साक्षी धर्मवीर लेखराम का बलिदान है। बाद में तो खुद स्वामी (श्रद्धानन्द) को भी एक मुसलमान के हाथों बलिदान होना पड़ा।

आर्यसमाज में आन्तरिक एवं बाह्य विरोधों का सामना करने के लिए ऋषि दयानन्द ने जो नियमोपनियम बनाये, वे पर्याप्त हैं। उन नियमों पर चलकर ही संस्था को दृढ़ किया जा सकता है।

ब्रिटिश सरकार को भी आर्यसमाज का विरोधी बनाने का षड्यंत्र रचा गया। मिस्टर ग्रे ने स्पीच और मिस्टर बार बर्टन ने गुप्त पत्रों के माध्यम से बहुत विद्वेष विष फैला रखा था। स्वामी जी ने सरकार के सन्देह को दूर करने के लिए–'द आर्यसमाज एण्ड इट्स डिक्टेटर्स : ए विण्डीकेशन' नामक पुस्तक छपवाकर अनेक पत्रों

१. सन्दर्भांकित–सद्धर्म प्रचारक, २६ मई, १६०६, पृ० ६

के सम्पादकों तथा राज शासकों व कर्मचारियों में वितरित करवायी ।

महाशय घासीराम एम. ए. ने 'वैदिक मैग्जीन' में इस पुस्तक की समालोचना करते हुए बड़ी प्रशंसा की । एक अंग्रेज ने भी पत्र के माध्यम से प्रशंसा की । अंग्रेज ने सचाई जानने के लिए इस पुस्तक तथा अंग्रेजी में अनुवादित 'सत्यार्थ प्रकाश' को भी मँगवाया । उसी के शब्दों में–

"I have read with great interest the Shrawan number of your Vedic Magazine specially the Vindication by Swami ji. Kindly send me a copy of 'The Arya Samaj and its detractors' and a copy in English of the Satyartha Prakash. I want to get at the truth."[1]

आर्यसमाज का उद्देश्य ऊँचा एवं सत्य पर आधारित है । जब तक स्वार्थी लोगों द्वारा फैलाये गये अविद्या रूपी बादलों को सत्य रूपी सूर्य के सामने से हटाया नहीं जायेगा, तब तक जन सामान्य को सचाई का पता नहीं चलेगा । स्वामी जी ने आर्यों से आग्रह किया था कि–

'Nelson's Encyclopeadia' द्वारा आर्यसमाज पर लगाये गये आरोपों का ठीक-ठीक निराकरण लिखकर हजारों प्रतियाँ बाँटो ।

आर्यसमाज में एकता के शुभ चिह्न :

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वामी जी ने यह घोषणा कर दी थी कि यूरोप और अमरीका की लोभ प्रधान सभ्यता को आर्यों की प्राचीन त्यागमय सभ्यता ही परास्त कर सकती है । उन्होंने सभी आर्यों से एक होकर प्रचार एवं प्रसार करने का आग्रह किया । आर्यों में एक चेतना आयी । 'आर्य गजट' में 'आर्यसमाज में इनक्लाब' नामक शीर्षक से एक लेख निकला था जिसमें सम्पादक महोदय ने अपनी टिप्पणी की थी कि आर्यसमाज ही देश का उत्थान करने में सक्षम है । परन्तु उसमें कुछ बिखराव दिखाई पड़ता है । आर्यों को अपनी एकता की तरफ भी ध्यान देना होगा ।

स्वामी जी इस टिप्पणी को आर्यों के लिए बहुत ही विचारणीय एवं लाभप्रद मानते थे । जब वे स्वयं पंजाब में गये तो वहाँ पर देखा कि दोनों पार्टियाँ एक होने को उत्सुक हैं । दोनों पार्टियों को एक करने में महात्मा हंसराज व महाशय रामकृष्ण अधिक सक्षम थे । सम्मति इस प्रकार दी थी–"पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि आर्यसमाज के सभासद बने रहने के लिए कौन से मुख्य सिद्धान्त हैं, जिनको मानना आवश्यक है और कौन से गौण सिद्धान्त हैं जिनसे मतभेद रखते हुए भी एक मनुष्य आर्यसमाज का सभासद रह सकता है ।"[2] जब तक यह निर्णय नहीं होगा तब तक एकता

---

१. सन्दर्भांकित–सद्धर्म प्रचारक, २६ अगस्त, १६११, पृ० ५

२. श्रद्धा, २५ जून १६२०, पृ० ३

स्थायित्व को प्राप्त नहीं हो सकती। स्वामी जी सिद्धान्तों के मुख्य और गौण दो भेद कर के दोनों दलों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहे। सिद्धान्तों में उनका यह कोमल दृष्टिकोण उनके एकता के प्रति स्नेह को ही व्यक्त करता है।

आर्यसमाज और ब्राह्म समाज :

'आर्यसमाज' और 'ब्राह्म समाज' की स्थापना एक ही समय में हुई थी। इन दोनों समाजों में कुछ समानताएँ भी हैं, जैसे–दोनों ही समाजें बाल-विवाह का विरोध करती हैं, वर्तमान जाति-बन्धन को तोड़ना चाहती हैं और दोनों ही समाजें वर्तमान पौराणिक धर्म को देश की मानसिक और धार्मिक उन्नति के लिए बाधक मानती हैं। 'आर्यसमाज' व 'ब्रह्म समाज' में इन सभी समानताओं को देखकर सामान्य व्यक्ति दोनों को एक समझने लगता है।

आर्यसमाज की स्थापना महर्षि दयानन्द ने बम्बई में सन् १८७५ में की थी। उन्होंने कोई नया धर्म नहीं चलाया बल्कि वेदों को प्रमुखता दी। उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि–

"अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपने मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसका मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।"[१]

ब्राह्म समाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ में बंगाल में की थी। उन्होंने अपने समाज के आधार रूप में भारत के प्राचीन ग्रन्थों को ही रखा। राजाराम मोहनराय के बाद समाज का कार्यभार महर्षि देवेन्द्र नाथ ने सँभाला। उनके समय में भी समाज में प्राचीन धार्मिक परम्परा का निर्वाह होता रहा। परन्तु केशवचन्द सेन की प्रधान होने के बाद से समाज का रूप बदल गया। बदलाव का कारण स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में द्रष्टव्य है–

"केशव चन्द सेन पर ईसाई धर्म का बहुत प्रभाव था और उसी ने समाज को प्रभावित किया।"[२]

---

१. स्वमन्तव्यमन्तव्य प्रकाश, महर्षि दयानन्द, पृ० ४०४

२. सद्धर्म प्रचारक, १६ अगस्त १९११, पृ० ५

ब्राह्मसमाज का सम्बन्ध भारतवर्षीय साहित्य से टूट गया और सब सिद्धान्त ईसाई धर्म के अनुकूल बना दिये गये। परन्तु आर्यसमाज ने अपने प्राचीन गौरवशाली साहित्य को नहीं छोड़ा और न अन्यों का अनुकरण किया। आर्यसमाज ने अपने अस्तित्व को बनाये रखा, जबकि ब्राह्म समाज ने अपना अस्तित्व समाप्त कर दिया। वस्तुतः जो नदी अपना स्रोत छोड़ देती है, वह अन्ततोगत्वा सूख ही जाती है।

गौतम बुद्ध तथा महर्षि दयानन्द :

गौतम बुद्ध तथा महर्षि दयानन्द दोनों ही ने प्राचीन संस्कृति का प्रचार किया। महात्मा बुद्ध ने स्वयं स्वीकार किया था कि बौद्धधर्म केवल ब्राह्मणों के प्राचीन लुप्त आचारों का प्रचार करता है किसी नवीन मत का नहीं। प्रत्येक सम्प्रदाय के दो भाग होते हैं—एक आचार सम्बन्धी और दूसरा मत सम्बन्धी। बौद्ध धर्म के आचार सम्बन्धी सिद्धान्त आर्य सिद्धान्तों से मिलते हैं—

१. अहिंसा :

जैसे भौंरा फूल के वर्ण तथा गन्ध को दुःख दिये बिना मधु लेकर उड़ जाता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को भौतिक पदार्थों का उपभोग त्याग-भावना से करना चाहिए। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** ।

२. इन्द्रिय निग्रह :

मनुष्य चाहे संसार में हजारों विजय पा ले, परन्तु वास्तविक विजयी वही पुरुष है जो अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ले। मन को वश में करना कठिन कार्य है तथापि मन का दमन सदा कल्याण का हेतु है।

३. प्रेम :

संसार में घृणा से घृणा का कभी नाश नहीं होता। कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता। अतएव घृणा के नाश के लिए प्रेमरूपी शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

४. सबकी समानता :

मनुष्य जन्म से छोटा या बड़ा नहीं होता बल्कि अपने कर्मों से छोटा या बड़ा होता है।

५. अनित्यता :

मनुष्य यह कभी नहीं सोचता कि यह अनित्य है और शीघ्र ही मरने वाला है। क्योंकि यह माया साथ जाने वाली नहीं है—

"सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, तब लाद चलेगा बंजारा ।।'

यदि वह ऐसा सोचे तो उसके राग-द्वेष और झगड़े-झंझट सब समाप्त हो जायें।

६. असत्य :

वे मनुष्य जो सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य बताते हैं, वे कभी भी उत्तमता को प्राप्त नहीं होते ।

७. पुनर्जन्म :

पापी को केवल इसी जन्म में दुःख नहीं मिलता बल्कि अगले जन्म में भी उसे पीड़ित होना पड़ता है ।

८. ज्ञान तथा कर्म :

वह मनुष्य जो धर्म के तत्त्व को तो जानता है लेकिन उस पर आचरण नहीं करता, वह उस गड़रिये के समान है जो दूसरों की भेड़ें चराता है लेकिन अन्त में उसे कुछ नहीं मिलता ।

गौतम बुद्ध जिन आचार सम्बन्धी नियमों को संसार में फैलाना चाहते थे । वे सब आर्यों तथा ऋषि-मुनियों के सदाचार सम्बन्धी नियम थे । हाँ, मत सम्बन्धी नियम अलग-अलग हो सकते हैं । महर्षि दयानन्द तर्क को प्रधानता देते थे जबकि महात्मा बुद्ध वाद-विवाद से अलग रहना चाहते थे । गौतम बुद्ध की स्थिति ऐसी थी जैसे कोई धर्म-प्रचारक यह निर्णय ही न कर सके कि आचार-अनाचार की कसौटी क्या है ? कर्मों का फल क्यों मिलता है ? यदि वह प्रचारक इस प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ है तो उसका सारा आचार सम्बन्धी महल निरर्थक हो जायेगा । यही कारण था कि आगे चलकर बौद्ध धर्म की स्थिति दयनीय बन गई । इसके विपरीत आर्यसमाज अब भी फल फूल रहा है ।

आश्रम-सुधार पर बल :

स्वामी श्रद्धानन्द जी आश्रम-व्यवस्था में सुधार पर अधिक बल देते थे । संस्कार के द्वारा सुधार होता है । समस्त संस्कार आश्रमों में निहित हैं । प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम है । प्राचीन काल में इसका सुन्दर व्यवस्थित रूप था । बीच में एक समय आया कि लोग ब्रह्मचर्य आश्रम से अनभिज्ञ हो गये । ब्रह्मचर्य आश्रम की अनभिज्ञता से समाज में एक तरह की विसंगति फैल गयी । आर्यसमाज ने इस आश्रम को पुनर्जीवित करने के लिए गुरुकुलों की स्थापना की ।

प्रत्येक आश्रम की एक आयु निश्चित है । ब्रह्मचर्य आश्रम की पच्चीस वर्ष तक, गृहस्थ आश्रम की पच्चीस से पचास वर्ष तक, वानप्रस्थाश्रम की पचास से पचहत्तर तक और संन्यास आश्रम की पचहत्तर से सौ वर्ष तक । यदि कोई व्यक्ति आजीवन

ब्रह्मचारी रहना चाहे तो रह सकता है। ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम लेने का भी विधान है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में भी कहा गया है–

''४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए परन्तु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है और जो विवाह ही न करना चाहे वे मरण-पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहे परन्तु वह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है।''[१]

जो सामान्य व्यक्ति हैं उनके लिए गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था है। गृहस्थ आश्रम में भी वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है जो जितेन्द्रिय एवं विद्यावान् हो। मनु महाराज ने लिखा है–

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।।[२]

अर्थात्–ब्रह्मचर्य से चार, तीन, दो अथवा एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम का विधान है–

"ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।"

शत० ब्रा० १४

अर्थात्–ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करके गृहस्थी बनें। गृहस्थ से वानप्रस्थ में प्रवेश करें तथा वानप्रस्थ के बाद संन्यास लेवें।

''सत्यार्थ प्रकाश' में महर्षि दयानन्द ने वानप्रस्थ का वर्णन इस प्रकार किया है–

''जब गृहस्थ सिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया तो तब वन में जाके बसे। नाना प्रकार के साम आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल कंदादि से पूर्वोक्त पंच महायज्ञों को करे और उसी से अतिथि-सेवा और आप भी निर्वाह करे।[३]

वानप्रस्थी को तपश्चर्या के साथ-साथ सत्संग, योगाभ्यास और स्वाध्याय करते रहना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल में भी कुछ आवास वानप्रस्थियों के लिए बनवाने की योजना बनाई थी। वे प्रत्येक सद्गृहस्थी को वानप्रस्थ आश्रम में आने की प्रेरणा देते थे।

चतुर्थ आश्रम संन्यास है। संन्यास आश्रम गृहस्थ व वानप्रस्थाश्रम का उपभोग करने के बाद लिया जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा भी संन्यास आश्रम लिया

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० ३२

२. मनुस्मृति अध्याय-३, श्लोक-२

३. सत्यार्थ प्रकाश, पंचम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० ८२

जा सकता है। यह आयु का चौथा भाग होता है। आयु का तीसरा भाग वनों में गुजारा जाता है–

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भामानुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ।।'

चारों आश्रम वेदों के अनुरूप हैं–चार अवस्थाएँ, चारों वेद और चारों आश्रम एक-दूसरे से जुड़े हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. जागरित – ऋग्वेद (ज्ञानकाण्ड) ब्रह्मचर्याश्रम

२. स्वप्न – यजुर्वेद (कर्मकाण्ड) गृहस्थाश्रम

३. सुषुप्ति – सामवेद (उपासनाकाण्ड) वानप्रस्थाश्रम

४. तुरीय – अथर्ववेद (विज्ञानकाण्ड) संन्यासाश्रम

स्वामी श्रद्धानन्द जी का मानाना है कि प्रथम तीनों आश्रमों में तो कुछ-कुछ सुधार हुआ लेकिन संन्यास आश्रम सुधार से अछूता ही रहा। जिन लोगों को मालपुवे उड़ाकर मस्त रहने की आदत पड़ गयी है उसे छुड़ाना बड़ा मुश्किल है। वर्तमान समय में ऐसे लोगों की संख्या अधिक बढ़ गयी है। निकम्मे साधुओं को ठीक करने के लिए स्वामी जी ने प्रेरणा दी कि–

"मेरी सम्मति में अकेले संन्यासी ही न तो इस रोग को दूर कर सकते हैं और न अकेले गृहस्थी ही बल्कि दोनों मिलकर इस काम में सहयोग करें तो सफल हो सकते हैं।"[२]

साधुओं पर होने वाले खर्च को स्वामी जी उचित मानते थे। परन्तु उनका मानना था कि वे–

"आराम की ज़िन्दगी छोड़कर लोकोपकार के लिए धर्म प्रचार में लग जायें तो देश में जो लोग अनपढ़ हैं उन्हें पढ़ाया जाय। और आगे से अनपढ़ व्यक्तियों के लिए जो वेदज्ञान से शून्य हैं उनके लिए संन्यास का रास्ता बन्द कर दिया जाय।"[३]

स्वामी जी ने आर्यसमाज के प्रचार के लिए अपना तन, मन और धन सब-कुछ समर्पण कर दिया था। उन्होंने अपनी पत्रिका 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से आर्य समाज की आवश्यकताएँ, आश्रम व्यवस्था में सुधार के साथ-साथ अन्य मतों की तुलना में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की श्रेष्ठता सिद्ध की।

स्वामी जी अपने सिद्धान्तों के पक्के थे। वे सिद्धान्त के विरुद्ध एक भी बात

१. मनुस्मृति ६१/३३, पृ० २६५
२. सद्धर्म प्रचारक, १८ मई १९१०, पृ० ४
३. वही,

मानने को तैयार नहीं होते थे। कई बार सिद्धान्तों में विरोध हुआ और उनसे कहा गया कि सुलह कर लो। सुलह को अंग्रेजी में **'कम्प्रोमाइज़'** कहा जाता है। धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों पर विरोधों का परिहार करने के लिए सुलह को एक साधन माना जाता है, जिसका मतलब यह लगाया जाता है कि कार्य की सिद्धि करना, भले ही पाप का आश्रय क्यों न लेना पड़े। परन्तु स्वामी जी सिद्धान्त में सुलह के विरोधी थे। 'सिद्धान्त' शब्द 'सिद्ध' और 'अन्त' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'सिद्ध' का तात्पर्य है निर्णीत या निश्चित और 'अन्त' का तात्पर्य है परिणाम। इस प्रकार निर्णीत परिणाम का नाम सिद्धान्त है। जैसे पाप करने से कर्ता को दुःख होता है इसलिए 'पुरुष को पाप नहीं करना चाहिए' यह एक सिद्धान्त है। जिसमें व्यक्ति को अच्छे या बुरे का निश्चय हो जाय तो वह एक सिद्धान्त है। जिसमें निश्चय न हो वह सिद्धान्त नहीं कहलायेगा। इसलिए सिद्धान्त में सुलह हो ही नहीं सकती क्योंकि वह निर्णीत तथ्य है।

एक बार किसी ने स्वामी जी से कहा कि जब अधिक शत्रु हो जायें तो सिद्धान्तों में सुलह कर लेना चाहिए। परन्तु वे कहते थे कि सिद्धान्त के जितने शत्रु हैं उन सबका एक साथ मुकाबला करने में अधिक लाभ है। प्रत्येक सिद्धान्त को वीरता से बिना किसी हिचकिचाहट के प्रकाशित एवं प्रचारित करना चाहिए। स्वामी जी के शब्दों में–

"कट्टरपन ही सिद्धान्त का प्राण है। स्पष्टवादिता ही धर्म प्रचार का मुख्य उपाय है। किसी सिद्धान्त सम्बन्धी बात को न छुपाना ही नीति का मूल तत्त्व है। इसलिए सिद्धान्त और सुलह में साँप और नेवले का-सा बैर है।'[1]"

यह उनकी दृढ़ता और सत्य के प्रति हठधर्मिता का प्रतीक है।

आर्यसमाज श्रेष्ठ पुरुषों की प्राणवान् संस्था है। इसकी स्थापना स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ ई० में बम्बई में की थी। आर्यों ने वेद को सब विद्याओं का भण्डार माना है। आर्यसमाज के प्रमुख सिद्धान्त–ईश्वर, जीव, प्रकृति, कर्मफल, मुक्ति, चार आश्रम, चार वर्ण, सोलह संस्कार और पंच महायज्ञ आदि प्रमुख हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्यसमाज के इन सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पित कर दिया। 'सद्धर्म प्रचारक' और **'श्रद्धा'** द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार व प्रसार किया गया। स्वामी श्रद्धानन्द ने सामाजिक सिद्धान्तों एवं ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्र सम्बन्धी साहित्य के सृजन एवं चरित्र की पवित्रता पर अधिक बल दिया।

---

१. सद्धर्म प्रचारक, ६ सितम्बर १६०८, पृ० ६

उन्होंने आर्यसमाज में व्याप्त अनियमितताओं को दूर करने की भी चेष्ट की। साथ ही ब्रिटिश सरकार के मन में व्याप्त आर्यसमाज के प्रति भ्रान्ति को भी दूर करने के लिए पुस्तक छपवाकर वितरित करायी। आर्यसमाज ने अपनी वैदिक स्रोत को नहीं छोड़ा इसलिए आर्यसमाज आज भी फल-फूल रहा है जबकि ब्राह्म समाज आदि संगठन अपने मूल स्रोत को छोड़कर काल कवलित हो गये। स्वामी जी ने गौतम बुद्ध तथ महर्षि दयानन्द, ब्राह्म समाज तथा आर्यसमाज के परस्पर मिलने वाले विचारों को भी सामने रखा और यही सिद्ध किया कि जो अपने स्रोत को छोड़ देता है वह नष्ट हो जाता है। वे अपने सिद्धान्तों पर सदैव सुदृढ़ रहते थे। यही उनकी महानता थी जिस कारण वे मर कर भी अमर हो गये हैं।

अष्टम अध्याय

शुद्धि आन्दोलन और स्वामी श्रद्धानन्द जी की पत्रकारिता

प्राचीन काल में शुद्धि :

प्राचीन काल में भी शुद्धि के प्रमाण मिलते हैं। यह शुद्धि जबरदस्ती नहीं की जाती थी, बल्कि आर्य संस्कृति से प्रभावित होकर शक, हूण, आभीर, यवन और खस आदि स्वेच्छया धर्म परिवर्तन कर लेते थे। श्रीमद्‌भागवत पुराण में शुद्धि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है–

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीर कंका यवणः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाक्षयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।[1]

अर्थात् किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खस तथा अन्य नीच जातियाँ जिस प्रभविष्णु अर्थात् प्रभावशाली विष्णु के आश्रय में शुद्ध हो जाती हैं, उसे हमारा नमस्कार हो।

"आर्यों से भिन्न जाति के लोगों को आर्य धर्म में दीक्षित करने के लिए सूत्र ग्रन्थों में (व्रात्सस्तोम) यज्ञ का विधान है। कात्यायन श्रोतसूत्र के अनुसार व्रात्यस्तोम यज्ञ का अनुष्ठान कर लेने के बाद व्रात्यत्व नहीं रहने पाता, और आर्य लोग उनके साथ व्यवहार (खानपान) आदि कर सकते हैं। आर्यों से भिन्न जाति के लोगों के लिए प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में 'व्रात्य' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था।"[2]

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा शुद्धि :

महर्षि दयानन्द ने शुद्धि के क्षेत्र में जो कार्य किया वह सर्वथा नवीन और मौलिक था। सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के मन में शुद्धि का विचार पंजाब यात्रा के समय उत्पन्न हुआ। उस समय हिन्दुओं को ईसाई प्रचारक अपने धर्म में परिवर्तित करने में लगे हुए थे। इन प्रचारकों को अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि देशों से आर्थिक सहायता मिल रही थी। इस कारण वे हिन्दू धर्म के लिए खतरा बन गये थे। स्वामी दयानन्द ने इस संकट को पंजाब में अनुभव करते हुए शुद्धि का प्रतिपादन किया। सबसे पहले महर्षि दयानन्द ने जीवन काल में ही कितने अन्य विधर्मी स्त्री-पुरुषों को शुद्ध कर के आर्यसमाज में सम्मिलित किया गया था। वस्तुतः महर्षि दयानन्द ने हिन्दुओं के हाथ

---

१. श्रीमद्‌भागवत पुराण, द्वितीय स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, श्लोक १८

२. द्रष्टव्य – आर्य समाज का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ६१०

में 'शुद्धि' का एक ऐसा हथियार दे दिया जिसका उपयोग करके वे अपनी शक्ति को बढ़ा सकते हैं।

हमारा देश कई सौ वर्ष तक गुलाम रहा। प्रारम्भ में लगभग ७०० वर्ष तक मुसलमानों ने शासन किया और तलवार के बल पर अनेक हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया। मुसलमानों के बाद यहाँ पर अंग्रेज आये। उन्होंने भी साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति अपनाकर यहाँ पर राज्य तो किया ही साथ में हिन्दुओं को अपने सम्प्रदाय में परिवर्तित करने लगे थे। हिन्दुओं को मुसलमान एवं ईसाई बनाने की प्रक्रिया रुकी नहीं बल्कि अबाध रूप से चल रही थी।

राजनीति से उपराम होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू संगठन, किसी कारणवश हिन्दू धर्म को छोड़ कर अन्य मतों में गये लोगों के पुनरावर्तन तथा अछूतोद्धार जैसी सामाजिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। 'गुरु का बाग' सत्याग्रह के परिणामस्वरूप जब वे अल्पकाल के लिए कारावास में रखे गये थे, तभी इन समस्याओं पर विस्तार से सोचने का अवसर उन्हें मिला था। उस समय उनकी चिन्तन-सरणि कुछ इस प्रकार प्रवाहित हो रही थी–

"मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आजकल नैतिक आचरण का सर्वत्र ह्रास हो रहा है। कांग्रेस, हिन्दू-महासभा तथा खिलाफत जैसे आन्दोलनों का नेतृत्व करने के लिए तो अनेक लोग पहले से ही मौजूद हैं। किन्तु मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए यही उचित है कि मैं आर्यजाति के समक्ष ब्रह्मचर्य को पुनरुज्जीवित करने तथा दलित जातियों के उत्थान हेतु कुछ ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करूँ।"[1]

महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं की मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति, राष्ट्रवादी कहे जाने वाले तथाकथित मुसलमान नेताओं द्वारा भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को अनदेखा कर उनका विश्वास इस्लामाबाद की ओर उन्मुख होना आदि अनेक ऐसी बातें थीं जिनके कारण स्वामी जी का कांग्रेस में कार्य करना कठिन-से-कठिनतर हो रहा था। वे चाहते थे कि अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक कार्यक्रम को तुरन्त अपनाया जाये ताकि दलित समस्या का न तो कोई दल राजनीतिक लाभ उठा सके और न अंग्रेज नौकरशाही ही हिन्दू-समाज में इस वर्ग को दयनीय स्थिति का बहाना बनाकर भारत को स्वराजय के अयोग्य कहने का अपना पुराना राग अलापते रहे। हिन्दू-समाज को सुसंगठित बनाने के लिए भी अछूत-समस्या का निराकरण किया जाना बहुत आवश्यक था।

१. स्वामी श्रद्धानन्द, संदर्भांकित–स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड ११), सम्पा० भवानीलाल भारतीय, पृ० ११०

जातिगत आधार पर लोगों के धार्मिक और सामाजिक अधिकारों का हनन हुआ। परिणामस्वरूप सैकड़ों अछूत-दलित और अन्त्यज जातियाँ बनीं जिनको सदा-सदा के लिए अधोगति पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय जैसे उच्च वर्ग के लोगों द्वारा विवश किया गया। ब्राह्मणों में प्रबुद्ध पुरोहितवाद ने अपना हित इसी में समझा कि उन तथाकथित नीच जातियों को जितना अधिक दबाकर रखा जायगा, अवशिष्ट समाज पर उनका गौरव, प्रभुत्व और शासन उसी अनुपात में स्थिर रहेगा। ब्राह्मणों ने राजन्य वर्ग को यही पाठ पढ़ाया कि शास्त्रों ने यदि लौकिक शाशन करने का अधिकार क्षत्रियों को दिया है तो समाज के आध्यात्मिक और धार्मिक मसलों को तय करने की पूरी छूट उन्हें ही मिली हुई है। इस प्रकार दो उच्च वर्णों के पारस्परिक षड्यंत्रों की शिकार बनी ये शूद्र जातियाँ शताब्दियों से उत्पीड़न एवं अत्याचारों को बेबस होकर सह रही थीं। वैश्य वर्ग अपने व्यापार के द्वारा धनोपार्जन को ही अपना कर्त्तव्य मान बैठे थे।

मुसलमानी शासन-काल में भारत के जिन लोगों ने परम्परागत धर्म को तिलांजलि देकर इस्लाम को स्वीकार किया, उनमें अधिकांश निम्न जाति के लोग थे जो एक ओर हिन्दुओं की पुरोहितशाही से तंग आ चुके थे, दूसरी ओर सामन्ती निरंकुश शासकों के अत्याचार का शिकार हो रहे थे। अपने-आपको इस विषम परिस्थिति से उबारने का एक मात्र उपाय धर्म-परिवर्तन ही था। मौलवी खुले-आम कहते थे कि हमारे पैगम्बर साहब के मजहब में बादशाह और गुलाम को भी बराबरी का हक हासिल है। इस प्रकार धर्मान्तरण खूब हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द से देश में लाखों हिन्दुओं का मुसलमान व ईसाइयों द्वारा किया गया धर्मान्तरण देखा न गया। इसे रोकने के लिए उन्होंने आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। उन्होंने एक मत रखा कि जो लोग पुनः हिन्दू धर्म में वापस आना चाहें उन्हें शुद्ध करके आने की अनुमति दी जानी चाहिए।

सन् १९२२ में क्षत्रिय उपकारिणी सभा की स्थापना हुई, जिसने मलकानों को शुद्ध करके पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराने तथा उन्हें राजपूत जाति का घटक मानने का समर्थन किया। इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर १३ फरवरी, १९२३ को आगरे में एक सभा आयोजित की गई। इसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी उपस्थित थे। यहाँ भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा स्थापित करने का निश्चय किया गया और स्वामी जी इसके प्रधान एवं महात्मा हंसराज उप-प्रधान मनोनीत किए गए। इसके बाद विशाल स्तर पर मलकानों की शुद्धि का कार्य आरम्भ हुआ और उनके गाँव के गाँव सामूहिक रूप से

शुद्ध होने लगे। १९२३ के वर्ष की समाप्ति तक लगभग ३० हजार मलकानों को शुद्ध कर हिन्दू धर्म की दीक्षा दी गई।

मलकानों को अपने पूर्वजों के धर्म में पुनः प्रविष्ट होता देखकर मुसलमानों में उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। जमीयत-उल-उलेमा के तत्त्वावधान में १८ मार्च, १९२३ को बम्बई में एक मीटिंग हुई जिसमें मलकानों को पुनः हिन्दू बनाने के लिए स्वामी जी को दोषी माना गया और व्यापक स्तर पर निन्दा की गई। तब से मुसलमानों का रुख स्वामी जी के प्रति आक्रामक होता गया। आर्य समाजियों ने स्वामी जी को एक अंग रक्षक रखने की सलाह दी। परन्तु निर्भीक संन्यासी का यही कथन था कि परमपिता ही मेरा रक्षक है, मुझे अन्य किसी रखवाले की आवश्यकता नहीं है। सनातनियों ने भी शुद्धि सभा के स्थान पर 'हिन्दू पुनः संस्कार समिति' की स्थापना की।

हिन्दू संगठन :

शुद्धि के साथ-साथ स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू संगठन के महत्त्व को भी अनुभव करते थे। हिन्दुओं के संख्यागत ह्रास की ओर महात्मा जी का ध्यान एक बंगाली भद्र पुरुष कर्नल यू० मुखर्जी ने प्रथम बार सन् १९१२ में उस समय आकृष्ट किया, जब वे कलकत्ता गये थे। सन् १९११ की जनसंख्या के आँकड़े प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्वामी जी को बताया कि यदि भारत में हिन्दुओं की संख्या इसी तरह कम होती रही तो आने वाले ४२० वर्षों में धरती पर से आर्यजाति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। स्वामी जी ने इस समस्या की गुरुता को तभी अनुभव किया था। परन्तु आर्यसमाज के कामों में उलझे रहने के कारण वे इस ओर अधिक ध्यान न दे सके।

सन् १९१५ में जब अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का गठन हुआ तो महात्मा मुंशीराम उसकी प्रारम्भिक बैठक में उपस्थित नहीं थे। कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद करने के बाद उन्होंने हिन्दू-संगठन के लिए हिन्दू महासभा के मंच का उपयोग लेने का विचार किया। प्रारम्भ में तो उन्होंने संगठन-विषयक अपनी धारणा को अनेक लेखों में व्यक्त किया तथा संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में व्यापक भ्रमण कर हिन्दू-संगठन के पक्ष में विशाल जनमत तैयार किया। हिन्दू-संगठन के दो पहलू स्वामी जी के समक्ष थे। इनमें प्रथम था मुस्लिमों को शुद्ध कर पुनः हिन्दू समाज में प्रविष्ट कराना तथा दूसरा दलित जातियों को ऊँचा उठाना।

हिन्दू महासभा में संकीर्ण विचारों वाले नेताओं की प्रधानता थी। इसलिए श्रद्धानन्द जैसे निष्ठावान् आर्यसमाजी के लिए हिन्दू-महासभा के साथ कदम मिलाकर

बहुत दूर तक चलना कठिन ही था। महासभा से मतभेद का एक कारण स्वामी जी का यह भी था कि वे उसे विशुद्ध समाज-सुधार संस्था के रूप में रखना चाहते थे जबकि कुछ महत्त्वाकांक्षी नेता उसे राजनीतिक दल के रूप में देखना चाहते थे। इन कारणों से स्वामी जी का महासभा से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। २४ जून, १६२५ को उन्होंने अपना त्यागपत्र हिन्दू महासभा के तत्कालीन प्रधान लाला लाजपतराय को भेज दिया और सर्वतोभावेन आर्यसमाज के माध्यम से ही इस कार्य में लग गये।

हिन्दू संगठन काम तलब उनके लिए मुस्लिम विरोध नहीं था, बल्कि हिन्दुओं के अपने अन्तर के कलुश को धोना था और जो हिन्दुओं के अन्दर दीनता-हीनता के भाव जाग्रत हो गये थे उन्हें दूर करना था।

इस बीच हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। सन् १६२३ में उत्तर भारत में दोनों जातियों में भीषण दंगे हुए। इन्हीं दंगों के देखते हुए सितम्बर १६२३ में दिल्ली में कांग्रेस ने एक बैठक आयोजित की। इस बैठक की अध्यक्षता स्वामी जी को ही करनी पड़ी। मुसलमान नेताओं की शिकायत थी कि स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा आरम्भ किये गये शुद्धि और संगठन के आन्दोलनों से ही हिन्दू और मुसलमानों के बीच वैमनस्य पनपा है। किसी वक्ता ने तो यहाँ तक कह दिया कि स्वामी जी को अंग्रेजों ने दोनों जातियों के बीच दुर्भावना पैदा करने के लिए रुपये दिये हैं। परन्तु स्वामी जी ने अपना धैर्य नहीं खोया और दो घंटे के बाद भाषण में कहा कि शुद्धि और संगठन को इस झगड़े के लिए दोष देना व्यर्थ है।

जो लोग स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व और चरित्र को समझे बिना उन पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हैं, वे उस महापुरुष के हृदय की विशालता तथा मानव जाति के प्रति अपार आदर भाव को समझने में असमर्थ रहे हैं। सामान्य लोगों की तो बात ही क्या महात्मा गांधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेता भी उनकी बात समझने में असमर्थ रहे। इसी कारण महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' के २६ मई, १६२५ के अंक में 'हिन्दू मुस्लिम तनाव : कारण और निवारण' शीर्षक एक लेख में स्वामी जी का उल्लेख करते हुए लिखा–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी भी अब अविश्वास के पात्र बन गये हैं। मैं जानता हूँ कि उनके भाषण प्रायः भड़काने वाले होते हैं। दुर्भाग्यवश वे यह मानते हैं कि प्रत्येक मुसलमान को आर्य धर्म में दीक्षित किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अधिकांश मुसलमान सोचते हैं कि किसी न किसी दिन हर गैर-मुस्लिम इस्लाम को स्वीकार ही लेगा। श्रद्धानन्द जी निडर और बहादुर हैं। उन्होंने अकेले ही पवित्र

गंगातट पर एक शानदार ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल खड़ा कर दिया है। किन्तु वे जल्दबाज हैं और शीघ्र ही उत्तेजित हो जाते हैं। उन्हें आर्यसमाज से ही यह विरासत मिली है।"[1]

हिन्दुओं के अन्दर जो हीन भावना पनप रही थी उसे स्वामी जी संगठन के द्वारा दूर करना चाहते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है–

"आजकल के हिन्दुओं के पुरखा प्राचीन आर्य, जिनके नाम पर हमारी मातृभूमि आर्यावर्त कहलायी, बहुत ही सभ्य तथा संगठित जाति के थे। प्राचीन इतिहास की निष्पक्ष शोध से सिद्ध हो जावेगा कि आज संसार की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ जिस समय जंगली जानवरों की नाईं भटकतीं फिरती थीं और पेड़ों की पत्तियाँ ही जिनके शरीरों का सहारा थीं, उस समय आर्य ऐसी असली संस्कृति को सींच रहे थे, जिसकी जोड़ की सभ्यता आज भी पैदा नहीं हुई। उनकी सभ्यता उन्नत, उदार एवं व्यापक थी, उससे उस समय का सम्पूर्ण जाना हुआ संसार प्रभावित था। आर्यावर्त के सम्पूर्ण महाद्वीप में सुख और शान्ति का साम्राज्य था।"[2]

हिन्दुओं के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में सौहार्द्र और सद्भाव का वातावरण बनाने के लिए भी स्वामी जी की एक निश्चित योजना थी। उन्होंने आर्यसमाजियों को प्रेरणा दी कि वे सनातनधर्मियों को चिढ़ाने या भड़काने वाली बातें अपने मंच से न कहें और न शास्त्रार्थ करने के लिए उन्हें उत्तेजना दें। स्वामी जी द्वारा की गई एकता की उन अपीलों का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला।

वर्तमान समय में जो हमारी महान् आर्य जाति को मृतक के समान माना जा रहा है इसके पीछे कारण इनकी संख्या कम होना नहीं बल्कि सम्पूर्ण रूप से असंगठित होना है। शारीरिक एवं बौद्धिक दृष्टि से यह जाति सम्पन्न है। नैतिकता में उस जाति के मुकाबले में सब निम्न हैं। इतना सब-कुछ होते हुए भी यह दुर्बल मानी जा रही है, इसके पीछे एक ही कारण दृष्टिगोचर होता है और वह है उपवर्गों में बँटना।

स्वामी जी के अनुसार हमारी जाति के लाखों चुने हुए व्यक्ति धन एवं बल के द्वारा मुसलमान व ईसाई बना लिये गये। और यह सिलसिला आज भी चल रहा है। परन्तु हमारे देश के बुद्धिजीवी वर्ग का इस तरफ ध्यान नहीं गया और न इस निकासी को रोकने का प्रयत्न किया गया। हिन्दुओं से अलग हुए भाइयों को भी अपने में मिलाने का कभी प्रयत्न नहीं हुआ। बाद में हमारे नेताओं की स्वामी जी की प्रेरणा

१. महात्मा गांधी – संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड ११), पृ० १२०

२. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड ५) पृ० १६५

से आँखें खुलीं। उन्होंने इसके दूरगामी परिणामों को सोचते हुए 'शुद्धि सभा' की स्थापना की।

'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' के नाम से एक संस्था संगठित की गई है और उसका यह उद्देश्य है कि जो हिन्दू धर्म में पुनः लौटना चाहते हैं उन्हें लौटा दिया जायेगा। इस संस्था की प्रबन्ध समिति में हिन्दुओं की सभी जातियों में से प्रमुख व्यक्ति लिये गये हैं।"

उपर्युक्त अपील २३ फरवरी, १९२३ से दैनिक पत्रों में प्रकाशित होनी शुरू हुई और २५ फरवरी को मलकानों का प्रथम जत्था शुद्ध किया गया। ये मलकानें ग्राण्ड ट्रंक रोड पर स्थिर 'रेभा' गाँव के थे जो आगरा से १३ मील की दूरी पर है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उनके रहन-सहन की पद्धति को देखा था।

"यह मेरा भाग्य था कि अकस्मात् मुझे प्रथम बार उन तथाकथित मुस्लिम राजपूतों के सच्चे हिन्दू घरों को देखने का सौभाग्य मिला और उनके रहन-सहन की हिन्दू पद्धति मेरे हृदय पर अंकित हो गयी।"[२]

शुद्धि का यह कार्य आगरा तथा निकटस्थ जिलों तक ही सीमित नहीं रहा था, भारत के अन्य प्रान्तों में भी सुचारु रूप से चल रहा था। विभिन्न प्रान्तों में शुद्ध होने वालों की जाति आदि का नामभेद अवश्य था, परन्तु उनका अपने हिन्दू भाइयों से जो सम्बन्ध था वह ठीक एक ही प्रकार का था। मलकाने, मूले, मूल-ई-इस्लाम, अध्वर्य आदि नव मुस्लिमों का चाहे जो नाम भेद रहा हो परन्तु उनके आचार-व्यवहार और रीति-रिवाज बिल्कुल हिन्दू भाइयों जैसे थे।

'अर्जुन' समाचार-पत्र में 'शुद्धि और संगठन का काम जारी है' शीर्षक से लिखे गये लेख में स्वामी जी ने लिखा था–

"मलकानों की शुद्धि भारतीय-हिन्दू शुद्धिसभा आगरा के द्वारा जारी है। मैं उस सभा के साथ काम नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्वतंत्रता से जो भी हिन्दू रस्म-रिवाज रखने वाली ईसाई व मुसलमान बिरादरियाँ मिलती हैं उनको बिरादरी में मिलाने का यत्न मैंने नहीं छोड़ा। हाँ, इसका ढोल पीटना बन्द कर दिया है। दलितोद्धार का काम बराबर जारी है। परन्तु उसको भी हिन्दू-महासभा तथा आर्यसमाज के साथ मिलकर नहीं कर रहा हूँ। हिन्दू-महासभा के साथ मिलना इसलिए नहीं हो सकता कि वे शुद्ध

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द – संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, सम्पा० डॉ० विनोद चन्द्र विद्यालंकार, श्री निरूपण विद्यालंकार, पृ० ५३६

२. वही

स्वच्छ दलितों के भी हाथ का अन्न-जल ग्रहण करने के प्रतिकूल हैं और मैं उसमें कुछ भी संकोच नहीं करता हूँ। आर्यसमाज की किसी संस्था के साथ इसलिए काम नहीं चल सकता कि वे बिना गुण-कर्म का विचार किये सबको यज्ञोपवीत धारण करा देते हैं।"[१]

स्वामी जी हिन्दुओं का एक संगठन बनाना चाहते थे। संगठन के बनाने के लिए उन्होंने सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया। परन्तु उन्होंने जो कुछ देखा व पाया उसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है–

"मैंने अपने सम्पूर्ण भारत के भ्रमण में यह अनुभव किया है कि आज के शिक्षित एक-दूसरे से मिलने के लिए नितान्त उदासीन हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि उनके पास मिलने के लिए तथा सभा आदि के आयोजन के लिए कोई सार्वजनिक स्थान नहीं है।"[२]

इस कारण स्वामी जी ने प्रथम सुझाव दिया कि प्रत्येक नगर और शहर में एक हिन्दू राष्ट्र मन्दिर की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें एकसाथ २५ हजार व्यक्ति समा सकें। इन स्थानों पर प्रतिदिन भगवद्‌गीता, उपनिषद्, रामायण व महाभारत की कथा होनी चाहिए। हिन्दुओं के जो साम्प्रदायिक मन्दिर हैं उनमें उनके इष्ट देवताओं की पूजा हो, और इन उदासीन मन्दिरों में तीन मातृशक्तियों की पूजा का प्रबन्ध होना चाहिए–१. गोमाता, २. सरस्वती माता और ३. भूमि माता। वेद में भी तीन शक्तियों की पूजा का विधान है–

इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥[३]

मातृभाषा, मातृसभ्यता और संस्कृति तथा मातृभूमि–ये तीन देवियाँ (माताएँ) कल्याण करने वाली हैं, इसलिए ये तीनों देवियाँ अन्तःकरण में अविस्मरणीय रूप से बैठें या विद्यमान रहें।

अस्पृश्यता प्रगति में बाधक है :

स्वामी जी लिखते हैं कि हिन्दुओं में प्रचलित अस्पृश्यता उनके सम्मान पर एक बट्टा है और उनके इस पाप का दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र भुगत रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि ये अछूत कौन है ? क्या वे दक्षिणी अफ्रीका के जुलु लोगों

---

१. महात्मा गांधी - संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द सम्पा० सत्यदेव विद्यालंकार, पृ० ६२२
२. महात्मा गांधी - संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५३७
३. ऋग्वेद ५/६३/६

के देश से आये थे अथवा नरक की जलती हुई अग्नि में से बाहर धकेल दिये गये थे ? कम से कम नरकाग्नि से नहीं गिराये गये, वह तो उनकी अवस्था से भली-भाँति प्रकट है । यदि थोड़े धैर्य से और पक्षपात-शून्य होकर खोज की जाये तो यह अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि अछूतों के और तो और भंगियों के भी–गोत्र वही हैं जो तीन उच्च वर्गीय कहे जाने वाले सवर्ण हिन्दुओं के हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इनका भी मूल उद्गम स्थान वही है जहाँ से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रकट हुए हैं । सम्भवतः उनके नैतिक पतन के कारण उन्हें सामाजिक दृष्टि से भी निम्न वर्ग में धकेल दिया गया । स्वामी जी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि–

"यदि वे रहन-सहन को सुधार लेते हैं और नैतिक दृष्टि से ऊपर उठने लगते हैं तो उन्हें अपनी पुरानी स्थिति प्राप्त करने से कोई नहीं रोक सकता ।"[1]

वेद में भी जन्म के आधार पर नहीं बल्कि गुण-कर्म के अनुसार ही जाति-विभाजन है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राज यः कृत ।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।[2]

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्मकर्तारमव्ययम् ।।[3]

चारों वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को गुण-कर्मों के विभाग से बनाया । उस गुण कर्मरूपी भेद का कर्ता भी मुझको जानो, मैं कैसा हूँ, वास्तव में कर्ता नहीं, फिर कैसा हूँ, विकार रहित हूँ ।

इस 'अछूत' रूपी रोग को दूर करने के लिए महर्षि दयानन्द ने आवाज उठायी। उन्होंने कहा कि वेद और गीता के अनुसार गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार चारों वर्णों का विभाजन है न कि जन्म के आधार पर । आर्यसमाज ने इस दिशा में काम करना प्रारम्भ किया ।

इस शुद्धि आन्दोलन का कट्टर हिन्दुओं ने विरोध किया । सन् १६०२ में आर्यसमाज स्यालकोट (पंजाब) में मेघों के उद्धार का प्रश्न अपने हाथ में लिया । इन मेघों को भी अछूत समझा जाता था । पहले तो यहाँ भी इस कार्य का विरोध किया

---

१. महात्मा गांधी – संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५२६
२. यजुर्वेद, अध्याय ३१, म० ११
३. गीता अध्याय ४, श्लोक १३, पृ० १७

गया। हिन्दुओं द्वारा इन नये आर्यसमाजियों को पीड़ित करने के कार्य में मुसलमान भी सम्मिलित हो गये थे। परन्तु जब शुद्धि का काम जोरों से चला और ४० हजार से भी अधिक लोग आर्यसमाज में प्रविष्टि हो गये तो अन्य लोग घबराने लगे। ईसाइयों व मुसलमानों ने अपना धर्म-परिवर्तन करने का काम रोक दिया क्योंकि जो लोग दबाव या पैसे से धर्म बदलते थे वे फिर आर्यसमाज के द्वारा हिन्दू धर्म में शामिल हो जाते थे।

अखिल भारतीय महासभा (कांग्रेस) के ३४वें अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से २७ दिसम्बर, १६१६ को अमृतसर में बोलते हुए उन्होंने राष्ट्रीयता को संकट में से निकालने के लिए शिक्षण और अस्पृश्यता-निवारण इन दो साधनों पर बल दिया था। अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था–

"राष्ट्र में एक वस्तु की कमी है। वह क्या है ? मुक्तिसेना (सॉल्वेशन आर्मी) के जनरल बूथकर ने 'सुधार योजना समिति' के सम्मुख अपने वक्तव्य में कहा था कि साढ़े छः करोड़ भारतीय अछूतों को विशेष सुविधा दी जानी चाहिए क्योंकि वे ब्रिटिश सरकार के आधार-स्तम्भ हैं। मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप इस वक्तव्य के अन्तस्तल में घुसकर जानने का प्रयत्न करें कि वे साढ़े छः करोड़ अछूत सरकार के आधार-स्तम्भ कैसे बन सकते हैं ? जबकि आप इस पवित्र पण्डाल में इकट्ठे हुए हैं तो मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप यह शपथ उठायें कि इन अछूतों के प्रति आपका व्यवहार इस प्रकार का हो कि उनके बच्चे आपके बच्चें के साथ कॉलेज और स्कूलों में पढ़ सकें, आप उन्हें अपने परिवारों में उसी प्रकार घुलने-मिलने दीजिए जिस प्रकार आप स्वयं अपने परिवारों में घुलते-मिलते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि वे राजनीतिक और प्रगति में आपके साथ कन्धे भिड़ाकर चल सकेंगे। देवियों और सज्जनों। आप मेरे साथ मिलकर हृदय से प्रार्थना कीजिए कि मेरा यह स्वप्न सत्य सिद्ध हो।"[1]

बाद में स्वामी जी ने कांग्रेस से अछूतोद्धार के लिए काम करने का आग्रह किया। परन्तु उनके इस आग्रह का कोई परिणाम न निकला तो उन्होंने ६ सितम्बर, १६२१ को गांधी के नाम एक पत्र लिखा था जिसमें स्वामी जी कहते हैं कि–मैंने कांग्रेस से निवेदन किया था वे निम्नवर्ग के लिए कुएँ आदि लगवायें। परन्तु इसके लिए कांग्रेस के पास धन नहीं है। उन्होंने साथ ही गांधी जी को लिख दिया कि यह केवल मैं आपकी जानकारी के लिए लिख रहा हूँ। अब मैं आपसे कभी भी धन नहीं मागूँगा।

---

१. महात्मा गांधी – संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५२६

इस कार्य के लिए उन्होंने अपनी समिति के स्रोतों से ही धन इकट्ठा किया।

अछूतों के उद्धार के लिए स्वामी जी पूर्ण रूपेण समर्पित थे। अछूतोद्धार की समस्या के समाधान के लिए वे चाहते थे कि कांग्रेस भी इसमें सहयोग दे। उन्होंने अपने एतद्विषयक विचार कांग्रेस के कई अधिवेशनों में रखे। महात्मा गांधी उनके इस विचार से सहमत थे और उन्होंने अछूतोद्धार को कांग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाया था, पर गांधी जी के जेल जाने के बाद कांग्रेस के अन्य नेताओं ने इस ओर से आँखें मूँद लीं।

कांग्रेसी नेताओं के इस रुख से क्षुब्ध होकर स्वामी जी ने कांग्रेस के महामंत्री श्री बिट्ठल भाई पटेल को २३ मई, १६२२ तथा ३ जून, १६२२ को जो पत्र लिखे, उनमें से एक पत्र का नमूना द्रष्टव्य है–

Gurukul Kurukshetra,
P. O. Thanesar

May 23rd 1922

The General Secretary
A.I.C.C. Bombay

There was a time (Vide Young India dated 25th May, 1921) when Mahatma Ji put the question of untouchability in the fore front of the congress programme. I find, however, that this question of raising the depressed classed has been relegated to an obscure comer. While Khadi claims the allention of some of our best workers and a liberal sum (Rs. 17 Lakhs) has been earmarked for it for the year. While a strong sub committee has been appointed to look after national education and a special appeal for fund is to be made for the same. The question of the removal of untouchability has been solved by making small grants to Ahmedabad, Ahmadnagar and Madras. I am of opinion that with a majority of six crores of our brothers set against us by the bureoucracy even the Khadi scheme cannot succeed completely. The members of the working committee, perhaps do not know that on this side our depressed borthers are leaving of dhakkar and takint to buying heap foreign cloth. I want to move the following resolution in the meeting of A.I.C.C. which comes of on June 7th next at Lucknow.

"That a sub committee consisting of three members of the

१. संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ४६७

A.I.C.C. be appointed to give effect to the resolution about the so called depressed classes; that a sums of five lakhs of rupees be placed at their disposal for propoganda work that in future all applications for grants be referred to the said sub committee for disposal."

Yours sincerely,
Shraddhanand Sanyasi

स्वामी जी के पत्रों पर विचार करने के बाद एक उप समिति बनाई गई, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द श्रीमती सरोजनी नायडू, श्री गंगाधर राव देशपाण्डे और श्री इन्दुलाल याज्ञिक को सम्मिलित किया गया था। कांग्रेस ने निर्णय लिया कि फिलहाल अछूतोद्धार के लिए दो लाख रुपया जमा किया जाये। परन्तु स्वामी जी इस प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं थे। वे दो लाख की जगह पाँच लाख रुपये चाहते थे और उनके मत में एक लाख रुपया कांग्रेस पार्टी के कोष से तत्काल इस कार्य के लिए अलग कर दिया जाना चाहिए। वर्किंग कमेटी के सदस्य उनके विचार से सहमत न थे, परिणामतः स्वामी जी ने अखिल भारतीय कांग्रेस के महासचिव को विस्तृत पत्र लिखते हुए उपसमिति से त्यागपत्र दे दिया। कांग्रेस के तत्कालीन महासचिव मोतीलाल नेहरू ने स्वामी जी को पत्र लिखकर उनसे अपने त्यागपत्र पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया। परन्तु स्वामी जी तो दृढ़ निश्चयी थे। उन्होंने अपने २६ जुलाई, १६२२ के निम्न पत्र के माध्यम से त्यागपत्र वापस लेने से साफ इंकार कर दिया। उस पत्र का कुछ अंश द्रष्टव्य है–

"Dear Pandit Moti Lal Ji,

I received your letter of 23rd July, 1922, addressed from Bombay about my resignation From the Untouchability Sub Committee. I am sorry. I am unable to reconsider it because some of the facts brought out by me, in my first letter, have simply been ignored."[1]

फर्रूखाबाद आर्यसमाज में शुद्धि के सम्बन्ध में रोचक प्रसंग इस प्रकार है–एक बार पंडित देवव्रत धर्मेन्दु बाहर शुद्धि के कार्य से कहीं बाहर गये थे। कुछ मुसलमान शुद्ध होने के लिए समाज में आ गये। सेवक ने विचार किया किये ये पंडित जी के न होने की सूचना पाकर वापस चले गये तो हो सकता है कि इनका मन बदल जाये और ये शुद्ध होने के लिए दोबारा यहाँ न आयें। सेवक ने २५ से भी अधिक स्त्री,

१. संदर्भांकित – स्वामी श्रद्धानन्द – एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ४७४

पुरुषों एवं बच्चों को यज्ञकुण्ड के चारों तरफ बैठाकर अग्नि प्रज्ज्वलित की। वह मंत्र नहीं जानता था, पर उसने निकल मुसलमानी स्वाहा, निकल अल्ला स्वाहा, हिन्दू बने स्वाहा आदि उच्चारण के साथ घृत और सामग्री की आहुति दिलवा कर सभी को यज्ञोपवीत पहनवा दिये। और कहा कि प्रमाण-पत्र पण्डित जी आकर देंगे। जब देवव्रत जी वापस आये तो सेवक ने कहा—मैं भी शुद्धि वाला पंडित बन गया हूँ। स्वामी जी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने सेवक की प्रशंसा करने के साथ-साथ उसे पारितोषिक भी दिया।

'अछूत' और 'पतित' शब्दों का बायकाट करो :

'अछूत' और 'पतित' शब्दों का जनमानस पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इन शब्दों से जुड़े (निम्न वर्ग) के लोगों के उत्थान के लिए अनेक संस्थाएँ प्रयास कर रही हैं। उनका यह प्रयास सराहनीय है। परन्तु इतना कुछ होते हुए भी उनका ध्यान एक छोटी-सी कमी की तरफ नहीं जाता जिसे जाने-अनजाने में करते आ रहे हैं। स्वामी जी इस कमी की तरफ इशारा करते हुए लिखते हैं—

"वह है 'अछूत' और 'पतित' जैसे शब्दों का प्रयोग करना। इस शब्द के प्रयोग से जहाँ पढ़ने व सुनने वालों के दिन और दिमाग पर अछूतपन का भाव दृढ़ होता जाता है वहाँ जिनके उद्धार की बात की जाती है वे भी अपने को अछूत समझने लगते हैं। तब तक सुधार का होना कठिन है जब तक यह धारणा बनी रहेगी कि—'हम अछूत हैं और वे 'छूत' हैं। तब वे अपने-आप को गिरा हुआ ही विचार करते हुए कभी भी अपने-आपको उत्तम बनाने का प्रयत्न नहीं करेंगे।"[1]

आत्म-सम्मान का भाव मनुष्य को उठाने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। यदि हम किसी मनुष्य को उसके पूर्वजों के नाम पर उसके आत्म सम्मान के भाव को जगायें तो अत्यधिक सफलता मिलती है और वह पतित होने से बच जाता है। इस सिद्धान्त का प्रयोग करके छोटी जातियों का उद्धार आसानी से किया जा सकता है।

स्वामी जी ने निम्न वर्ग के लोगों के उत्थान के लिए दो सुझाव दिये—

एक तो यह कि भविष्य में हम अपने देश के भाइयों के प्रति किसी भी भाषा, लेख वा सम्मेलन में अछूत शब्द का प्रयोग न करें।

दूसरा यह कि जो संस्थाएँ निम्न वर्ग के उत्थान के लिए काम कर रही हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक किसी व्यक्ति के अन्दर स्वयं उन्नति करने एवं अपने पाँव पर खड़े होने की इच्छा न हो तो किसी और के द्वारा बाहर से किये गये

---

१. श्रद्धा, ११ जून, १९२०, पृ० ६

प्रयत्न निष्फल होते हैं। अतः लोगों में स्वतः ऊपर उठने की प्रेरणा जाग्रत करनी चाहिए।

आचार-अनाचार और छूत-छात :

भक्ष्याभक्ष्य का विषय भी आचार-अनाचार के अन्तर्गत आता है। परन्तु पौराणिकों ने खाने-पीने के एक अंश को ही धर्म की कसौटी मानकर उसे इतना व्यापक बना दिया कि छूत-छात रूपी मगरमच्छ के बड़े पेट ने यम, नियम, साधन, सदाचार सब-कुछ अपने अन्दर रखकर मुँह बन्द कर लिया है। स्वामी जी समाज में व्याप्त इस बुराई को 'मगरमच्छ' की संज्ञा देते हैं।

स्वामी जी अपने बचपन की एक घटना बताते हैं कि पहले हमारे घर पर एक पंजाबी भोजन बनाता था। वह बीमार हो गया तो एक देवीदीन कनौजिया भोजन बनाने लगा। उन्हीं दिनों घर पर हमारे एक अनपढ़ पुरोहित भी आ गये। पुरोहित जी एक दिन आग लेने के लिए चूल्हे पर चले गये तो देवीदीन ने शोर मचा दिया–"भ्रष्ट के दिहिन अरे, राम ! राम !"[1] इस कोलाहल को सुनकर पिताजी गये और पुरोहित जी से पूछा। पुरोहित जी कहने लगे कि हम आग लेने अन्दर गये थे इसने शोर मचा दिया। पिता जी ने देवीदीन मिसिर से कहा–अरे यह भी तो ब्राह्मण है और तेरी रोटी को भी नहीं छुआ। देवीदीन क्रोध से बोला, "सरकार का हमने शराब पी, जुआ खेला, चोरी की, पर अपना धर्म नहीं छोड़ा।"

स्वामी जी कटाक्ष करते हैं कि एक ब्राह्मण का आचार मांस खाने, शराब पीने से भ्रष्ट नहीं होता परन्तु उसके चौके में भूल से एक फलाहारी धर्मात्मा का पैर पड़ जाने से इसका आचार भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए स्वामी जी सभी आर्य लोगों से आग्रह करते हैं कि उन्हें ऐसी छूत-छात को अपने पास नहीं फटकने देना चाहिए। महर्षि दयानन्द के अनुसार–

"आचार, सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।"[2]

स्मृति में कथित धर्म को ही आचार कहा है–

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।।[3]

जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता

१. सद्धर्म प्रचारक, १३ जौलाई, १६१०, पृ० ३
२. सत्यार्थ प्रकाश, दशम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १७८
३. मनुस्मृति २/६

है वह इस लोक में कीर्ति और मरण के उपरान्त सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ।

महर्षि दयानन्द से किसी ने प्रश्न किया कि–

"द्विज अपने हाथ से रसोई बनाकर खावें वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें ?"

महर्षि उत्तर देते हैं कि "शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य पालने और पशुपालन खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहें ।"[1]

पाक कर्म शूद्र का ही है । भोजन जिस स्थान पर होता है वहाँ पर शुद्धि का ध्यान अवश्य रखें । आर्यों का एकसाथ बैठकर भोजन करना उचित है । परन्तु एक-दूसरे का जूठा भोजन नहीं करना चाहिए । महर्षि दयानन्द के शब्दों में–

"क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती । जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है । वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं ।"[२]

महर्षि दयानन्द ने आगे भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दी कि–"जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल, कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है । जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोग-नाश, बुद्धि, पराक्रम, वृद्धि और आयुवृद्धि होवे उन तण्डुलादि गोधूम, फल, मूल, कन्द, दूध, घी, मिष्टादि पदार्थों का यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब भक्ष्य कहाता है ।"[३]

भक्ष्य पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति द्विज कहलाते हैं और अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति राक्षस कहलाते हैं । जो अभक्ष्य पदार्थ खाते हैं उनके साथ बैठकर खाने की तो बात दूर है उनके हाथ से बना भी नहीं खाना चाहिए । ब्राह्मण कुल में पैदा होकर जो अभक्ष्य पदार्थ खाता है उसे शूद्र मानो । जो निम्न कुल में पैदा होकर भक्ष्य पदार्थों का सेवन करता है वह ब्राह्मण कहलायेगा ।

आर्यसमाज ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । परन्तु वे भी विदेशियों के साथ भोजन करने से कतराते हैं । स्वामी जी ने इसके निम्न कारण बताये–

(१) एक तो यह कि पौराणिक भाइयों की धारणा है कि ईसाई और मुसलमान जो अन्य मतावलम्बी हैं उसके साथ भोजन करने का शास्त्र निषेध करता है ।

(२) दूसरी यह भी धारणा घर कर गई है कि ईसाई व मुसलमान मांस खाने वाले

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, दशम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १८१

२. वही, पृ० १८३

३. सत्यार्थ प्रकाश, दशम समुल्लास, महर्षि दयानन्द, पृ० १८३

मलेच्छ हैं उनके साथ कैसे भोजन किया जाय।

इन दो कारणों से आर्यसमाजी भी उनके साथ भोजन करने से हिचकिचाते हैं। स्वामी जी प्रथम भ्रान्ति के समाधान में लिखते हैं कि ईसाई मुसलमानों को मांस खाने के कारण पौराणिकों का एकसाथ भोजन न करना युक्ति-युक्त नहीं है। वाममार्गी पौराणिक भी तो मांस खाते हैं फिर उनके साथ निषेध क्यो नहीं करते। यदि एक-सा भोजन बना हो तो ऋषि के अनुसार भक्ष्य है उसे आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रकार के लोग एकसाथ बैठकर खा सकते हैं।

दूसरी जो बात वे कहते हैं कि वेदनिन्दक एवं अन्य मतावलम्बी के साथ भोजन नहीं करना चाहिए, यह बात भी तर्कसंगत नहीं लगती। क्योंकि वेदनिन्दक जैनियों एवं बौद्धों के साथ मतभेद होते हुए भी खान-पान के अलावा रिश्तों का भी सम्बन्ध जोड़ते हैं। इनसे वे परहेज क्यों नहीं करते ? ईसाइयों से ही क्यों परहेज करते हैं?

स्वामी श्रद्धानन्द जी अपना मन्तव्य स्थापित करते हुए लिखते हैं कि जो भी भक्ष्य पदार्थ का सेवन करता है चाहे वह ईसाई मुसलमान या अन्य किसी भी मजहब से क्यों न हो उसके साथ भोजन करने में किसी आर्य को कोई संकोच नहीं होना चाहिए। हमारी संस्कृति तो–

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।'

हे मनुष्यो। तुम मिलकर चलो, प्रेमपूर्वक बात करो, तुम्हारे मन आपस में मिलकर सत्य-असत्य का निर्णय करें। प्राचीन काल में विद्वान् लोग परस्पर विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करके अपने-अपने उपभोग के भाग को प्राप्त करते थे।

विजातियों से घृणा न करो :

विजातियों से घृणा करने का सिलसिला तो प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। संसार में ऐसी कोई जाति नहीं जो अपने से छोटी जाति को घृणा की दृष्टि से न देखती हो। प्रत्येक जाति दूसरी जाति से घृणा करती है।

स्वामी जी आगे लिखते हैं कि वैमनस्य की यह भावना जाति तक सीमित न रही बल्कि व्यक्ति-विशेष में भी पनपने लगी। हर व्यक्ति अपने से छोटे को घृणा से देखता है। संसार में फैली हुई मूल वेदनाओं का कारण घृणा तथा उससे उत्पन्न होने वाले दुर्व्यवहारादि दोष हैं।

पुरुष स्त्री जाति से अपने को श्रेष्ठ मानता है और पुरुषों में भी ब्राह्मण अपने

---

१. अथर्ववेद ६/६४/१

को अन्यों से उत्तम मानकर चलता है जिससे यह वैमनस्य बढ़कर घृणा का रूप ले लेता है। असमानता से उत्पन्न घृणा-भावना मनुष्य की नीच प्रकृति का प्रादुर्भाव है। स्वामी जी का मन्तव्य है कि बड़ा हो या छोटा सबसे प्रेम करो–

"यदि कोई हमसे शुद्धता में, विद्या में, कुल में छोटा है तो उसे घृणा की दृष्टि से न देखना हमारे लिए सुखकारी है न कि उसके लिए।"[1]

भारत में क्रिश्चियन मिशन की असफलता :

भारत में ईसाई मिशनरी अपने प्रचार के लिए धन को पानी की तरह बहा रही थी। इतना सब-कुछ करते हुए भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी। 'दि चर्च मिशनरी सोसायटी' का सारा प्रयास असफल रहा, वे मात्र निम्न वर्ग के कुछ लोगों को ही ईसाई बना पाये। इस सम्बन्ध में एक अंग्रेज म० कोहन का कथन है–

"Indeed if we were to take a map of India and not the places, where the most numerous conclusions are recorded we should find the population to be principally the lower Abrigihal races. With the higher races and the educated classes christian missions altogether fail to secure a foot hold."[2]

ऐसा ही एक कथन सन् १८८६ की लन्दन मिशनरी सोसायटी की रिपोर्ट में छपा था–

"We have but little to record in the way of open success among the high castes. The more successful wo.k is among the lower castes who live on the out skirts of the city."[3]

इन सब बातों से पता चलता है कि भारत में ईसाई मिशनरियाँ असफल रहीं। उनकी असफलता का कारण स्वामी जी बताते हैं कि धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसका निवास हृदय में अन्य सब वस्तुओं से अधिक निकट रहता है। जिन मनुष्यों में धर्म की भावना होती है उनका हृदय इतना कोमल हो जाता है कि वे अनेक कष्ट सहन कर सकते है परन्तु अपने धर्म पर प्रहार सहन नहीं कर सकते।

अपने मत में किसी दूसरे व्यक्ति को लाने के लिए पहले उसके अन्दर के धार्मिक विचारों को उखाड़ना होता है और उनकी जगह नये धार्मिक विचारों का वृक्ष बोना होता है। इस काम में विशेष सावधानी की जरूरत होती है। वृक्ष को जहाँ से उखाड़ा जाय उस भूमि का नाश नहीं होना चाहिए। पौधे को भी आसानी से लगायें। परन्तु ईसाई मिशनरी ने इन दोनों ही बातों का ध्यान नहीं रखा।

१. सद्धर्म प्रचारक १३ सितम्बर १९११ पृ० ५
२. म० कोहन - संदर्भांकित - सद्धर्म प्रचारक, ३१ मई, १९१, पृ० ५
३. सद्धर्म प्रचारक, ३१ मई १९११, पृ० ५

स्वामी जी आर्यों से आग्रह करते हैं कि वे शुद्धि का कार्य करते हुए अन्य मतावलम्बियों के साथ कटु भाषण व गाली-गलौच को छोड़कर स्नेह तथा सहानुभूति का व्यवहार करें। किसी भी धर्म का प्रचार धर्मप्रचारकों के आचरण पर अधिक निर्भर करता है। यदि उपदेशक घमण्डी होंगे तो सफलता नहीं मिल सकती। ईसाई मिशनरियाँ भी इस घमण्डी व्यवहार से युक्त थीं। अतः उन्हें अपने मिशन में पूर्ण सफलता न मिल सकी। डॉ० पालके रस ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स' में लिखा है कि–

"The reason why the Christian Missions of the present day are, upon the whole, a lamentable failue is due mainly to the naughtiness, with which christer ligion is offered to the pagan."[1]

स्वामी दयानन्द की घोषणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति आर्य हो सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द इसी मान्यता को क्रियान्वित कर रहे थे। जब मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के मंच से अछूतों को बाँटने का प्रस्ताव रखा तो स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त मान्यता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया और अन्ततः इसी मान्यता की वेदी पर उन्हें अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ा। गांधी जी ने इस प्राण-विसर्जन को 'महिमामय मृत्यु' कहकर सम्मानित किया। और एक समय के उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी लाला लाजपतराय भाव विह्वल होकर कह उठे थे–"आज स्वामी श्रद्धानन्द ने मुझे परास्त कर दिया।"

इस बलिदान के लोगों ने अलग-अलग अर्थ लगाये हैं, पर इतना निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी मुस्लिम-विरोधी नहीं थे। यह भी एक संयोग ही है कि जिस मजहब के पैरोकार ने उनके प्राण लिये उसी मजहब के एक चिकित्सक ने उन्हें बचाने का भरसक प्रयास किया। जब उनका बलिदान हुआ तब गोहाटी में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। उसकी सफलता की कामना करते हुए स्वामी जी ने अपनी रोग-शैय्या से जो सन्देश भेजा, वह इस प्रकार था–

"भारत की स्वतंत्रता हिन्दू-मुस्लिम एकता, भाईचारे पर निर्भर करती है।"[2]

उनकी शहादत का समाचार पाकर स्वयं महात्मा गांधी ने यह शोक प्रस्ताव रखा था–

"अखिल भारतीय कांग्रेस का यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्द जी की कायरता

---

१. सन्दर्भांकित–सद्धर्म प्रचारक ३१ मई १६११, पृ० ६
२. स्वामी श्रद्धानन्द–संदर्भांकित–भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ३१

और कष्टपूर्ण हत्या पर क्षोभ प्रकट करता है। भारत माता के देशभक्त और वीर सपूत की दुःखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना संभव नहीं है। उनका जीवन और जीवन की विशिष्टताएँ अपने देश और धर्म की सेवा पर अर्पित रहीं। उन्होंने निर्भीकता और दृढ़ता के साथ सदैव असहायों, पतितों और दीन-दुखियों को सहारा दिया।"[1]

स्वामी जी प्रतिवर्ष ईद के अवसर पर मुसलमानों को जो सन्देश देते थे वे इस सम्बन्ध में उनकी सोच व चिन्तन के प्रतीक हैं। सन् १९२५ में उन्होंने अपने सन्देश में हिन्दुओं से कहा था–

"परमात्मा तो सारे संसार का पिता है, यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्य-मात्र को भाई समझना चाहिए। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अमल से दोगे। आज मुसलमान स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, नये कपड़े पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है ? यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहारों पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे।"[2]

स्वामी श्रद्धानन्द को पूर्ण विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमानों के मध्य आपस के सन्देह की सब घटनाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। धर्म और सत्य का सूर्य पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्णिम दृश्य देखने में आयेंगे। जब हिन्दू और मुसलमान भाईचारे से भारत में रहेंगे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी प्रत्येक कार्य मानव-हित को ध्यान में रखकर और अपने प्रत्येक स्वार्थ को छोड़कर करते थे। अपने आपको काम करने में वे छोटा या बड़ापन महसूस नहीं करते थे। स्वामी जी ने 'अर्जुन' में 'एक नहीं अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है।' नामक शीर्षक लेख में लिखा था–

'यदि माननीय पं० मदनमोहन मालवीय व श्रीमान् महाराजाधिराज रामेश्वर सिंह दरभंगा-नरेश स्वीकार कर लें तो मैं एक साधारण सभासद रहकर उनके अधीन काम करने को तैयार हूँ। इस विषय में डेढ़ मास के अन्दर मालवीय जी को तीन तारें और पाँच पत्र भेज चुका हूँ परन्तु उधर से कोई उत्तर नहीं मिला।"[3]

स्वामी जी का हिन्दू-महासभा के साथ मतभेद होने का कारण भी बाल-विधवाओं

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द–संदर्भांकित–भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ३१
२. स्वामी श्रद्धानन्द–संदर्भांकित–स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ६१५-१६
३. वही, पृ० ६०५

के पुनर्विवाह का प्रस्ताव था। स्वामी जी इस प्रस्ताव के समर्थक थे जबकि मालवीय तथा अन्य सनातनी इसका विरोध करते थे। इसलिए आपने यह अच्छा समझा कि महासभा से अपने को अलग कर लिया जाय ताकि संगठन को नुकसान न हो। इसलिए २४ जून, सन् १९२५ को आपने हिन्दू-महासभा के प्रधान लाला लाजपतराय की सेवा में त्याग पत्र लिख भेजा, जिसकी अविकल प्रतिलिपि यह है–

"मैं यह अनुभव करता हूँ कि हिन्दू-महासभा के कार्यक्रम को उदार बनाये बिना आर्य हिन्दू समाज के पतन और नाश से रक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए हिन्दू-समाज को आवश्यक सुधारों के लिए तैयार करने को पंजाब के दौरे पर मैं अपनी व्यक्तिगत हैसियत से जा रहा हूँ। महासभा के पदाधिकारियों को अपने कारण किसी भी उलझन में न डालने के लिए मैं १६ मई को महासभा की कार्यकारिणी की सभासदी से त्यागपत्र दे रहा था। पर आप लोगों ने मुझको वैसा करने नहीं दिया। मैं यह देख रहा हूँ कि मैं जिस कार्यक्रम को लेकर बाहर निकल रहा हूँ, उससे सनातनधर्मी नेता महासभा से बिगड़ उठेंगे। इसलिए मैं सहायता करता ही रहूँगा।"[1]

इसलिए स्वामी जी ने विधवाओं के पुनर्विवाह को ध्यान में रखते हुए हिन्दू-महासभा से अपने आपको पृथक् कर लिया। जिस प्रकार उनके मत में अछूतोद्धार की प्रबल भावना थी उसी प्रकार विधवाओं का करुणापूर्ण जीवन भी उनके सामने था। वास्तव में इन दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस महापुरुष ने अपना जीवन होम कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने महर्षि दयानन्द द्वारा चलाये गए शुद्धि आन्दोलन को न केवल आगे बढ़ाया बल्कि उसे तीव्रता भी प्रदान की। उन्होंने अपने इस आन्दोलन के द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण का वेग अवरुद्ध कर दिया।

स्वामी जी ने शुद्धि के साथ-साथ 'हिन्दू संगठन' भी स्थापित किया। ऐसा करने से लोगों ने उन पर साम्प्रदायिकता के मिथ्या आरोप भी लगाये। परन्तु स्वामी जी का सौहार्द्र और सद्भाव इस संगठन के स्थापित करने में मात्र हित यह था कि हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय एकमत हों और छुआ-छूत तथा छोटे-बड़े की तुच्छ भावना को मन से निकाल दें एवं भारतीय संस्कृति और सभ्यता को अपनायें। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक, देश से अस्पृश्यता को नहीं मिटाया जायेगा और अछूतोद्धार नहीं किया जायेगा तब तक देश उन्नति नहीं कर सकता। उनका यह मन्तव्य आज के युग में भी प्रासंगिक है।

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द–संदर्भांकित–स्वामी श्रद्धानन्द, पृ० ६०६

नवम अध्याय

स्वामी श्रद्धानन्द : हिन्दी साहित्यकारों तथा पत्रकारों की दृष्टि में

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन विविधताओं से युक्त था। उनके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। वे विविध प्रतिभा के धनी थे। बहु-आयामी जीवन में उन्होंने कभी हार नहीं मानी। धार्मिकता की तरफ जहाँ उनका अधिक रूझान था, वहाँ पर वे वर्तमान परिस्थितियों से भी जुड़कर चलते थे। साहित्य एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने नयी चेतना का संचार किया। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में तो वे भीष्म पितामह कहे जा सकते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द एक साहित्यकार, पत्रकार, राजनेता, आदर्श शिक्षक, धर्मगुरु, श्रेष्ठ प्रचारक, कुशल वक्ता आदि अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं। इस बहु-आयामी महान् आत्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अनेक साहित्यकारों तथा पत्रकारों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं–

ईसा और सेंट पीटर से स्वामी श्रद्धानन्द की तुलना करते हुए रेम्जे मैक्डानल्ड कहते हैं–"वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि–'ईसा' की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल सामने रखना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की तरफ इशारा करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार 'सेंट पीटर' के चित्र के लिए नमूना माँगेगा तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूँगा।"[1]

स्वामी जी के प्रति अपने प्रेम और निष्ठा को चित्रित करते हुए सी.एफ.एण्ड्र्यूज़ कहते हैं–

"इस जीवन में बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें मैं उत्तम प्रेम करता हूँ, जितना स्वामी श्रद्धानन्द को करता था। हमारी स्वच्छ, निर्मल तथा प्रगाढ़ मैत्री में कदाचित् ही धुँधलापन आया हो। उनके उच्च चरित्र की ही महत्ता थी जिसने उनके प्रति मेरे प्रेम को सच्चा और गहरा बनाया था। यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न होता था कि स्वामी जी मुझसे प्रेम करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द एक स्निग्ध और उदार हृदय रखते थे। जब कभी गरीबों, दुखियों और दलितों के नाम पर उनके हृदय से अपील की जाती थी वह अपील उनके लिए अपरिहार्य हुआ करती थी। इसलिए जब-जब बलिदान जयन्ती आए तब-तब उनके सच्चे प्रेमियों का ध्यान गरीबों की ओर, जिन्हें वह प्यार करते थे, जाना चाहिए और उन गरीबों को भी परमात्मा के बच्चे समझना चाहिए।"[2]

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियाँ, रमेशचन्द, पृ० १

२. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, सम्पा० भवानीलाल भारतीय, पृ० १७७

सर जेम्स मेस्टन स्वामी जी के उच्चादर्शों से प्रभावित होकर लिखते हैं–

"मैंने शीघ्र ही आपकी मुख्य और पुरानी संस्था गुरुकुल कांगड़ी को देखा और उसी समय आपके नेताओं और मित्रों में से बहुतों से परिचय लाभ किया। इसी समय महात्मा मुंशीराम जी से मेरा परिचय हुआ। मुझे विश्वास है कि उनका विलय मेरे लिए प्रबल हेतु है कि उक्त नामी सज्जन के विषय में जो सम्मति मैंने स्थिर की है, उसे मैं प्रकट करूँ। पर उनके भावों का सत्कार करते हुए निःसंकोच इतना अवश्य कहूँगा कि एक मिनट भी उनके साथ रहते हुए उनके भावों की सत्यता और उनके उद्देश्यों की उच्चता को अनुभव न करना असम्भव है। दुर्भाग्यवश हम सब मुंशीराम नहीं हो सकते।"[१]

स्वामी जी की कुर्बानी पर श्रद्धांजलि देते हुए लाला लाजपत राय कहते हैं–

"श्रद्धानन्द वीर संन्यासी" वीर स्वामी था। वीर और संन्यासी सुनकर आश्चर्य होता है। परन्तु वैदिक आदर्श यही है। कलयुग में हमारा सौभाग्य है कि स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आदर्श को पूरा किया। लोगों को वीर और संन्यासी शब्द बाधक प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों सहायक हैं। तीन दिन से स्वामी जी के मृतक शरीर पर रो-रोकर फूल चढ़ा रहे हैं। परन्तु स्वामी जी के शरीर में से जो आवाज आ रही है, उसे सुनिये वह आवाज है कि इस अनार्यपन को दूर करिए। रोना अनार्यपन है। बन्द करो। अब तो उद्यम होना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द के कतरे से उनकी हड्डियों से दरख्त उगेगा। जिसकी जड़ें पाताल में जायेंगी। मित्रो, रोना-धोना बन्द करो। प्राइवेट रिश्तों में हम तमाम उमर रो लेंगे। यह समय रोने का नहीं है। यह समय यह दिखाने का है कि जिसने यह समझा था कि स्वामी जी का खून करके शुद्धि बन्द होगी, वह वृक्ष स्वामी जी के खून से सींचा जाकर भारत में बढ़ और फैलकर संसार भर में फैलेगा।"[२]

स्वामी जी के अनुपम नेतृत्व की प्रशंसा आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने इस प्रकार की है–

'आर्यसमाज में सब कामों में सबसे आगे रहने वाला, सब क्षेत्रों में धकापेल करने वाला यदि कोई व्यक्ति नेता हुआ है, तो वे महात्मा मुंशीराम ही थे। उनके स्वभाव का चित्रण करना कठिन कार्य है, उनमें अनेक ऐसे विरोधी गुण थे जो पर्याय से उभरते रहते थे और अपना काम कर जाते थे। महात्मा मुंशीराम अथवा स्वामी

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, सम्पा० भवानीलाल भारतीय, पृ० १६८
२. वही

श्रद्धानन्द अपने जैसे आप ही थे ।

"स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रतिस्पर्द्धियों की संख्या कम नहीं थी । ईर्ष्यालु भी कम नहीं थे, पर अपने उज्ज्वल गुणों के कारण उन्होंने अपने शत्रुओं को खूब परास्त किया । उनकी अपनी लिखी हुई–'दुःखी दिल की पुर दर्द दास्तां' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।"[१]

स्वामी जी की देश-सेवा, निर्भीकता, समाज-सेवा आदि उनके शब्द-सौष्ठव को पं० मोतीलाल नेहरू ने इस प्रकार अंकित किया है–

"मैं और मुंशीराम सहपाठी थे । हमारे सम्बन्ध भी ममतापूर्ण थे । वे जब बोलते या लिखते थे, तब शब्द बहुत तोल-तोल कर इस्तेमाल करते थे । वे किसी से डरते नहीं थे । उन्होंने देश-सेवा की थी, और वे गम्भीर जोखिम भी उठाते थे । वे विधवा-विवाह के पक्ष में थे । उनकी मृत्यु और हत्या से मुझे सख्त आघात लगा है। ऐसे मामलों में बदला लेने का कोई अर्थ नहीं है । अलबत्ता खूनी को उचित दण्ड मिलेगा । परन्तु हम इतने से संतोष न करें । उनकी मृत्यु से झगड़ालु मानस वाले पाठ लें, अपनी-अपनी दुश्मनी भूल जावें और एक हो जावें ।"[२]

स्वामी जी के साहस, समाज-सेवा और दृढ़ता का परिचय मौलाना मोहम्मद अली की इस तहरीर से मिलता है–

"उनका (स्वामी जी का) मुख्य कार्य उनके धर्म-संगठन के सम्बन्ध में था और उस बारे में शंका नहीं की जा सकती । फिर भी इतना तो सही है कि वे जिसे अपना धर्म मानते थे उसके लिए काम करने में उन्होंने उल्लेखनीय लगन दिखाई थी । उनकी हिम्मत के बारे में शंका नहीं । साहस और शौर्य के वे शिक्षण थे । गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल देने वाले उस बहादुर देश-प्रेमी का चित्र अपनी नजर के सामने रखना मुझे बहुत अच्छा लगता है । ऐसी उम्दा मौत के मिलने से उन्हें तो कुछ नहीं लगता, मगर हमारे लिए दुःखदायक घटना है ।"[३]

शुद्धि आन्दोलन के पोषक एवं गुरुकुल के संस्थापक के रूप में स्वामी जी का पुण्य स्मरण महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने इस प्रकार किया है–

"हमारे परम भक्त और हिन्दू जाति के परम सेवक श्रद्धानन्द जी का देहान्त एक पतित पुरुष के हाथ से हुआ है । स्वामी जी देश के चमकते तारे थे । इनका देशप्रेम ४० वर्ष से सरकार को विदित है । पहले तो वे वकालत करते थे, २० वर्ष पहले

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५४२

२. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १६६

३. वही

उन्होंने गुरुकुल स्थापित किया और उस संस्था को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनकी देशभक्ति कैसी थी, इसका स्मरण कराने की जरूरत नहीं। आपको तो पता ही होगा कि दिल्ली में छाती खोलकर वे बंदूकों के सामने खड़े रहे थे। हिन्दू-महासभा के काम में वे बड़ा भाग लेने वाले थे। शुद्धि के तो वे आचार्य ही थे। हजारों मुसलमानों को उन्होंने हिन्दू बनाया था। स्वामी जी को शुद्धि और संगठन की चिन्ता थी। ७१ वर्ष की उम्र के ऐसे स्वामी को कोई मार डाले, यह लज्जा और शोक की बात है।

"स्वामी जी के लिए यह बड़ी बात थी क्योंकि उनकी ऐसी मृत्यु हिन्दू धर्म के मृत शरीर में नया प्राण मन्त्र फूँकने जैसा है। इस प्रकार दिल्ली में हमारे एक प्रधान नेता ने धर्म की खातिर अपने प्राण दिये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द भी ऐसे ही शहीद हुए हैं। वे किसी धर्म के साथ बैर नहीं रखते थे। वें सदा हिन्दुओं की सेवा करते थे।"[१]

स्वामी जी के अस्पृश्य प्रेम, देशोहित एवं उनके बलिदान का वर्णन करते हुए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी कहते हैं–

"स्वामी जी वीरों में अग्रणी थे। स्वामी जी ने अपनी वीरता से भारत को आश्चर्यचकित किया था। उन्होंने अपनी देह को भारतवर्ष के लिए कुर्बान करने की प्रतिज्ञा की थी। इसका मैं साक्षी हूँ। स्वामी जी अनाथ-बन्धु थे, अनाथों के सहायक थे। स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति प्रेम इतना अधिक था कि, कांग्रेस अछूतों के लिए कितना ही काम करे परन्तु महासमिति का प्रत्येक सदस्य कम से कम एक अस्पृश्य नौकर अपने घर में रखने की प्रतिज्ञा न ले, तब तक कांग्रेस की सेवा कोई बड़ी नहीं कही जावेगी। भले ही कोई व्यवहारज्ञ मनुष्य आज के स्वामी के प्रति इस सुझाव को अव्यावहारिक कहे, परन्तु यह सुझाव उनका अस्पृश्यों के प्रति असाधारण प्रेम बताता है।"[२]

स्वामी जी की भव्य आकृति, प्रकृति एवं दिव्यगुणों का चित्रण **जवाहरलाल नेहरू** ने इस प्रकार किया है–

"विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभ कार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करने वाले गुणों का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आवश्र्यजनक मात्रा

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७०
२. वही, पृ० १७१

में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, संन्यासी के वेश में भव्य मूर्ति, दीर्घकाया, शाहाना सूरत, अन्तर्भेदी दीप्तनयन और कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर चेहरे पर उभर आने वाली झुँझलाहट या गुस्से की छाया का गुजरना–मैं इस जीवन्त मूर्ति को कैसे भुला सकता हूँ। प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखें के सामने आ खड़ी होती है।"[1]

भारत के वीरकाल के देवपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द की मानव-सेवा और त्याग-भावना का अंकन भारत-कोकिला **सरोजिनी नायडू** ने इस प्रकार किया है –

"मैं सदैव अनुभव करती हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीरकाल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य और उन्नत व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने साथियों में देवता की तरह विचरण करते थे। एक बड़े शिक्षा-केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी के (संस्थापक) मुख्याधिष्ठाता भी रहे। यद्यपि उन्होंने कभी किसी बड़े विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तो भी वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जो शहादत से आलोकित हो उठा था, साहस और राष्ट्र-सुधार के कार्यों में इन गुणों का सुन्दर और सटीक परिचय देते रहे। मानव समाज की सेवा के सम्बन्ध में उनके भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।"[2]

भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने स्वामी जी को आध्यात्मिक गुरु एवं समाज-सुधारक माना है–

"स्वामी श्रद्धानन्द एक बड़े आध्यात्मिक गुरु और समाज-सुधारक थे, उनके प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।"[3]

स्वामी जी द्वारा किये गये हिन्दी-प्रचार एवं हिन्दी-प्रेम को उजागर करते हुए **सत्यदेव विद्यालंकार** लिखते हैं–

"आर्यसमाज ने हिन्दी प्रचार कार्य दक्षिण भारत में किया, उसका भी गणेशपूजन स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रोत्साहन द्वारा सन् १९२० ई० में हुआ। स्वामी जी का कथन था कि 'हिन्दी प्रचार वैदिक धर्म को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन हैं।"[4]

धर्मान्धता के विरोधी धर्म के पक्षपाती स्वामी श्रद्धानन्द जी का पुण्य स्मरण अमर शहीद **गणेश शंकर विद्यार्थी** ने इस प्रकार किया है–

"स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन बहुत महान् था। धर्म, देश और हिन्दू जाति के

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७८

२. वही पृ० १७९

३. संदर्भांकित–सार्वदेशिक साप्ताहिक दिल्ली, २६ दिसम्बर १९७६ पृ० ४७

४. संदर्भंकित–वही, पृ० ४६

लिए उन्होंने जो 'कुछ किया, आगामी संतति उसके सामने श्रद्धा के साथ सिर झुकायेगी। तप-युक्त उनकी वीरता और उनके साहस के सामने उस समय देश स्तंभित रह गया जब उन्होंने दिल्ली के निवासियों की अरक्षित वेदी पर लक्ष्य करने वाली सरकारी तोप के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी। वे हर तरह से महान् थे और ऐसे महान् थे कि हमें भासित होता है कि देश की इस सबसे बड़ी समस्या को हल करने के लिए अर्थात् धर्मान्धता और मोह की भावनाओं की अंत्येष्टि क्रिया करने के लिए विधि की गतियों ने इस अवसर पर उनसे बढ़कर दूसरा और कोई बलिदान का पात्र ही नहीं पाया। अत्यन्त विनय के साथ उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाते हुए हम उनकी अमर आत्मा और उतनी ही अमर कीर्ति के नाम पर देश-भर से प्रार्थना करते हैं कि इस महान् बलिदान से इस देश में धर्मान्धता का नाश तथा धर्म और त्याग के सच्चे भाव का उदय हो।"[१]

सत्यव्रती, दृढ़व्रती स्वामी जी के बलिदान की महत्ता **कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ टैगौर** के शब्दों में–

"हमारे देश में जो सत्यव्रत को ग्रहण करने के अधिकारी हैं एवं इस व्रत के लिए प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहाँ है, वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जैसे इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी, इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु से इनके प्राण एवं चरित्र को उतना ही महान् बना दिया।"[२]

लौह पुरुष सरदार बल्लभ भाई पटेल भी स्वामी जी की दृढ़ता के समक्ष नतमस्तक हैं–

'स्वामी श्रद्धानन्द जी की याद आते ही सन् १९१९ का दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। सरकारी सिपाही फायर करने की तैयारी में है। स्वामी जी छाती खोलकर सामने आते हैं, **'लो चलाओ गोलियाँ'** उनकी उस वीरता पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता ? मैं चाहता हूँ कि उस वीर संन्यासी का स्मरण हमारे अन्दर सदैव वीरता और बलिदान के भावों को भरता रहे।"[३]

राष्ट्रीय पुनरुत्थान की दिशा में स्वामी जी बेजोड़ थे, उपन्यास-सम्राट् **मुंशी**

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७१-७२
२. वही, पृ० १७२
३. वही, पृ० १७२

प्रेमचन्द ने उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि इस प्रकार दी है–

"यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है, उसकी कोई जोड़ नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाजारी चीजों की तरह विद्या बिकती है। यह स्वामी श्रद्धानन्द जी का ही दिल था, जिसने प्राचीन गुरुकुलों में भारत के उद्धार का तत्व समझा। समय उनके अनुकूल न था। विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ बाधाएँ ही बाधाएँ। पर वे जितने आदर्शवादी थे उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुए गुरुकुलों की स्थापना कर दी।"[१]

महात्मा आनन्द स्वामी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को 'मुक्तिदूत' के रूप में देखा है–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज देश की उन महान् विभूतियों में से थे, जिनका जीवन निरन्तर त्याग, बलिदान, देशभक्ति तथा राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के प्रचार में लगा रहा। संकीर्णता उन्हें छू तक भी नहीं गई थी। साम्प्रदायिकता से परे स्वामी जी जातीय सद्भाव, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख एकता एवं राष्ट्रीय गौरव के पक्षधर थे। भारत के छह करोड़ अछूत और दलित वर्ग ने स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में अपने मुक्ति दूत के दर्शन किये।"[२]

कल्याण मार्ग के पथिक, गुरुकुल के संस्थापक, स्वामी श्रद्धानन्द जी की श्रद्धा-भावना को **काका कालेलकर** ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

"कल्याण मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द जी की सेवा अपनी दृष्टि में अपूर्व है। राष्ट्रीय शिक्षण, धर्म, जागृति, समाज सेवा आदि अनेक क्षेत्रों के बल से ही वे यह सब कर सके। जिस दिन उन्होंने अपने प्रिय पुत्रों को लेकर गुरुकुल की स्थापना के संकल्प से गंगा के तट पर निवास किया, वह दिन भारतवर्ष के लिए वर्तमान इतिहास में महत्व का था। उस दिन उन्होंने हिन्दू जाति के उद्धार की नींव डाली, ऐसा कहा जा सकता है। जिस दिन उन्होंने अन्त्यज बालकों को अपनाया, उसी दिन हिन्दू जाति को उन्होंने संगठित किया और जिस समय उन्होंने पत्थर, गोलियों और खंजर की तरफ तुच्छता की नज़र से देखा, उसी दिन भारतवर्ष को उन्होंने निर्भय किया। अपनी अतुल श्रद्धा से उन्होंने अपना दीक्षा नाम कृतार्थ किया। सचमुच श्रद्धानन्द राष्ट्रमूर्ति थे। ऐसा समय जरूर आयेगा कि जब अनेक द्वेषी और विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि यह भारत वर्ष का आधुनिक संन्यासी मित्र की नजर से ही सभी की तरफ देखता था।"[३]

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७५

२. वही, पृ० १७७

३. वही, पृ० १७५-७६

स्वामी जी को प्रथम सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शक, राष्ट्रीय एकता के प्रतीक और गुरुकुल के संस्थापक के रूप में राष्ट्रपति **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** ने इस प्रकार याद किया है–

"स्पष्टवादिता और निर्भीकता के वे मूर्तिमान स्वरूप थे। उनकी निर्भीकता, साहस व स्पष्टवादिता के गुणों को अंग्रेजी सरकार अच्छी प्रकार जानती थी। परन्तु इन गुणों को स्वदेशवासी, सहयोगी, कार्यकर्ता भी तीव्रता से अनुभव करते थे। जो लोग काले कानून के विरोध में मौजूद न भी थे, उनके हृदयपट पर भी स्वामी जी की वह निर्भीक मूर्ति अमिट रूप से चित्रित है! उस समय स्वामी जी ने अंग्रेजों की गोलियों और संगीनों के सामने अपना सीना खोलकर हृदय की निर्भीकता तथा उच्चता का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। उनकी बुद्धि तथा उच्च भावना ने जामा मस्जिद के मिम्बर पर से उपदेश करवाया और हिन्दू-मुस्लिम एकता का मनोरम दृश्य दिखाया और उसी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता, और निर्भीकता के कारण आततायियों के हाथों से शहादत प्राप्त की। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामी जी का स्थान प्रथम सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शक का है। जिसको स्वामी जी के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ उनके लिए स्वामी जी के जीवन वृत्तान्त को पढ़ना ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने वाला है। स्वाजी जी ने गुरुकुल की स्थापना करके ब्रह्मचारियों के शिक्षण का ही प्रबन्ध नहीं किया प्रत्युत उसका सारा जीवन ही देश के लिए एक महान् गुरुकुल का काम कर रहा है और करता रहेगा।"

स्वामी जी की जातीय संगठन की विचारधारा में अवगाहन करते हुए **विनायक दामोदर सवारकर** कहते हैं–

'इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि हमारे श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तानी की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहुति दे दी। उनका सम्पूर्ण जीवन विशेषकर उनकी शानदार मौत हिन्दू जाति के लिए एक स्पष्ट सन्देश देती है। हिन्दू राष्ट्र के प्रति हिन्दुओं का क्या कर्तव्य है इसे भी स्वामी जी के अपने शब्दों में ही रखना चाहता हूँ। सन् १६२६ के २६ अप्रैल को (लिबरेटर) पत्र में वे लिखते हैं–'स्वराज तभी सम्भव हो सकता है जब हिन्दू इतने अधिक संगठित और शक्तिशाली हों जायें कि नौकरशाही तथा मुस्लिम धर्मोन्माद का मुकाबला कर सकें।'[२]

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७५-७६

२. वही, पृ० १७६

स्वामी जी को तप-त्याग के आधार पर सर्वश्रेष्ठ विभूति प्रतिपादित करते हुये **पं० गोविन्द वल्लभ पंत** ने उनका पुण्य-स्मरण इस प्रकार किया है–

'स्वामी जी की पुण्यस्मृति को निरन्तर देश और समाज के समाने जीवित और जागृत रखना और उपयोगी और आवश्यक है। स्वामी जी का स्थान हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों में है, और सदैव रहेगा। उनका देश-प्रेम भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास, अदम्य साहस और वीरता, असाधारण त्याग, निर्मल और पवित्र, सदाचार भारतीय पुरुष रत्नों के इतिहास में सदैव अंकित रहेगा। उनके यशस्वी जीवन के प्रधान गुण त्याग और सेवा से आज हम भारतवासियों का मस्तक गर्व से ऊँचा है।'[1]

स्वामी जी अपने यशःशरीर से सदैव अमर रहेंगे। उनके अमर बलिदान पर **हरिशंकर शर्मा** ने उन्हें श्रद्धांजलि दी–

'पूज्यप्राप्तः स्मरणीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की पवित्र पुण्य स्मृति राष्ट्र की बुझी हुई आत्माओं में जीवन-ज्योति जाग्रत करे, एकमात्र कामना है। वे मरकर भी अमर हैं। महान् पुरुषों का भौतिक शरीर पहले ही तिरोहित हो जाय परन्तु उनका आत्मा विश्व के लिए प्रकाश-स्तंभ बन जाता है–

जिये तो जान लड़ाते रहे वतन के लिए।
मरे तो हो कुर्बान-संगठन के लिए।।[2]

अक्षय कुमार जैन की दृष्टि में स्वामी श्रद्धानन्द महर्षि दयानन्द की कोटि के सत्पुरुष थे–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भारतीय समाज में जो चेतना उत्पन्न की, महर्षि स्वामी दयानन्द के बाद देश को और समाज को इतना बड़ा आशीर्वाद और कहाँ प्राप्त हुआ। स्वामी जी के चरणों में मेरा विनम्र प्रणाम।"[3]

विष्णु प्रभाकर ने उन्हें राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के सेवक के रूप में स्मरण किया–

"राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के प्रति स्वामी श्रद्धानन्द की सेवायें मुझे सदा प्राणित करती रहीं। दिल्ली में बर्तानवी संगीनों के सामने छाती खोलकर वे ही खड़े हो सकते थे। उनकी सेवाओं का क्षेत्र बहुत व्यापक है।"[4]

स्वामी जी का उदारता, सहृदयता एवं वैदिक-प्रेम को **प्रो० सुधाकर** ने इस प्रकार स्मरण किया है–

"श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान वर्तमान समय में सबसे बड़ा बलिदान है। यह बलिदान हिन्दू जागृति का सबसे बड़ा साधन बनेगा। स्वामी जी का जीवन हिन्दू समाज के लिए अमूल्य था। आर्यसमाज और वैदिक धर्म की जो सेवा उन्होंने की है उसका निर्देश करना मानो सूरज को दीपक दिखाना है। स्वामी जी का हृदय इतना

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १८१
२. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५५७
३. वही

विशाल था कि उसमें मुसलमान, ईसाई, जैन मत-मतान्तर वालों के लिए स्थान था। स्वामी जी सबसे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दू होते हुए भी जामा मस्जिद से मुसलमानों को धर्म का उपदेश दिया। उनकी सर्वप्रियता का इससे बढ़कर और क्या नमूना हो सकता है। परन्तु वैदिक धर्म का प्रेम जो उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, उसको मुसलमानी असहिष्णुता सहन न कर सकी। वैदिक धर्म के प्रेमी इस बलिदान से नए जीवन और उत्साह को प्राप्त करेंगे। वैदिक धर्म मुसलमानी मत का सबसे बड़ा उद्धारक है। इसी धर्म के निरन्तर प्रचार से मुलसमानों का अन्धविश्वास तथा संकीर्णता दूर हो सकती है। अतः इसके प्रचार के लिए हम सबको कटिबद्ध होना चाहिए। यही स्वामी जी महाराज के जीवन का सबसे बड़ा आदर है।"[१]

महाशय कृष्ण ने "श्रद्धा" से श्रद्धानन्द का सम्बन्ध स्थिर किया है–

"स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का मूल आधार श्रद्धा थी। जिस काम को भी उन्होंने अपने हाथ में लिया, श्रद्धा से उसे पूरा कर दिखाया। श्रद्धा तब तक पैदा नहीं हो सकती, जब तक त्याग न हो और त्याग के बिना श्रद्धा का कोई महत्त्व नहीं। इसलिए स्वामी जी ने संन्यास लेते हुए अपना नाम श्रद्धानन्द रखा। उनका सारा जीवन त्याग का जीवन था। न केवल इस दृष्टि से कि उन्होंने अपना सर्वस्व धर्म पर न्यौछावर कर दिया था, बल्कि इसलिए भी कि उनका जीवन बहुत सादा था। उनकी आवश्यकताएँ साधारण थीं। वे श्रद्धा और त्याग की मूर्ति थे। जिस काम में वे पड़े, पूरी लगन से पड़े। संदेह नहीं कि उनकी गतिविधियों का क्षेत्र बदलता रहा, किन्तु आर्यसमाज से उनका प्रेम कम नहीं हुआ। दूसरे क्षेत्रों में काम करने के बाद वे आर्यसमाज में लौट आये। उन्होंने कहा भी है कि जो आनन्द आर्यसमाज की सेवा में, किसी दूसरे काम में नहीं। उन्होंने यौवन काल में आर्य समाज का पल्ला पकड़ा और आयुभर उसके ही बने रहे। क्या मजाल जो उनकी श्रद्धा में तनिक भी अन्तर आया हो। उन्होंने अपना सर्वस्व आर्यसमाज पर न्यौछावर कर दिया।'[२]

जमना लाल बजाज ने उन्हें एक आदर्श संन्यासी माना है–

"स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी के त्याग, लगन और देशभक्ति की मुझ पर बड़ी गहरी छाप है। उनकी मुझ पर बड़ी कृपा थी। ऐसे अनेक प्रसंग मुझे याद हैं जिन पर अगर लिखने बैठूँ तो एक ग्रन्थ बन जाय, पर मैं लेखक कहाँ हूँ। स्वामी जी को मैं एक आदर्श संन्यासी मानता हूँ। उनका जीवन शुरू से आखिर तक कर्ममय था। अगर आजकल के साधु-संन्यासी उनके समान बन जायें तो हमारे देश को कितना लाभ होगा।'[३]

भाई परमानन्द का मन्तव्य है कि स्वामी जी के बलिदान से यह सिद्ध हो गया

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७४

२. वही, पृ० १७६

३. वही, पृ० १७७

है कि शहीद की मृत्यु ही उसका जीवन होती है–

"स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन का पिछला हिस्सा देश की राजनैतिक सेवा के लिए अर्पित किया, उनका पहला भाग केवल धार्मिक था। उनका इससे भी बड़ा काम हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता की रक्षा के लिए हमारी संस्कृति, धर्म और जातीयता के अज़्हद (अजगर) की तरह हड़प करने वाली शिक्षा प्रणाली के बुरे प्रभाव को दूर करने के लिए गुरुकुल प्रणाली को जारी करना था। मेरी सम्मति में हिन्दू जाति को स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए था, यदि केवल मात्र गुरुकुल चलाना ही उनका काम होता। उन्होंने संन्यासी बनकर तथा राजनीति में आकर भी अपनी उसी स्पिरिट को आगे बढ़ाया। देहली या अमृतसर में जो गोली का सामना किया या जेल में निडरता दिखाई, वह ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें सब जानते हैं।

"राजनैतिक आन्दोलन में सबसे आगे कदम रखते हुए स्वामी जी ने अपनी प्राचीन सभ्यता और धर्म के प्रेम को ही प्रधानता दी। जब उन्हें हिन्दू जाति संकटापन्न प्रतीत हुई तो वह पहले पुरुष थे जो शुद्धि के खतरों से भरी हुई रणभूमि में कूद पड़े। उनके पिछले जीवन का हरेक क्षण धर्म के लिए बलिदान का क्षण था। यदि उनकी मृत्यु वैसे ही सामान्य रूप से हो जाती तो साधारण जनता को इस सचाई का अनुभव न हो पाता। मुझे तो हर्ष है कि एक कातिल ने अपने इस कार्य से सारी दुनिया को दर्शा दिया कि स्वामी जी का जीवन ऐसे ही बलिदान का जीवन था जैसी की उनकी मृत्यु हुई।"[1]

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन पर स्वामी जी के हिन्दी-प्रेम की अमिट छाप थी–

'प्रातः स्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान को अनेक वर्ष हो गये। गुरुकुल की स्थापना कर और उसमें हिन्दी को मुख्य स्थान देकर उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी दूरदर्शिता और सच्ची राष्ट्रीयता का रास्ता तथा प्राणिमात्र के लिए सच्चा प्रेम दिखाया था। उनकी सात्विक सरलता सिद्धान्तों में दृढ़ता, देश, मानव समाज और स्वाभाविक निर्भयता आदि गुणों की छाप आज भी मेरे हृदय पर अंकित है और मेरे जीवन की संरक्षित सम्पत्ति है।'[2]

श्री प्रकाश जी को 'सात्विक हठ' पसंद था–

"मुझे तो स्वामी जी के अनेक गुणों में उनका असीम साहस सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक साहस व उत्साह से वह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कार्य करते रहे। उनका सात्विक हठ बहुत ही प्रिय था। उनका सारा जीवन वीरोचित था और अन्त में भी उन्हें वीरगति

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७२-७३
२. वही, पृ० १७६

ही मिली। ऐसे ही महापुरुष हमारे देश का सिर इस गिरी अवस्था में भी उन्नत किये हुए है।''[1]

गणेश वासुदेव मावलंकर की दृष्टि में स्वामी जी में धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान थे–

''स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी की तपस्या, समाजसेवा, ये सब बहुत ही उज्ज्वल हैं। जब-जब उनकी स्मृति जाग्रत होती है, तब-तब उनकी धीरोदात्त, भव्य और गम्भीर मुद्रा मानो आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है।''[2]

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने स्वामी श्रद्धानन्द और सी. एफ० एन्ड्रचूज़ के पत्र-व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी को निर्भीक एवं प्रेरणा को स्रोत माना है–

''स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शन मैंने केवल एक बार किये थे, यानी जब वे शान्ति-निकेतन पधारे थे। उससे पूर्व उन्होंने पं० तोताराम जी के नाम से लिखी मेरी पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष, की सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा 'सद्धर्म प्रचारक' में कर दी थी। दीनबन्धु सी.एफ.एण्ड्रचूज़ स्वामी जी को बड़े भाई की तरह पूज्य मानते थे और गुरुकुल कांगड़ी की प्रथम यात्रा संभवतः उन्होंने सन् १६०७ में की थी। सन् १६१३ में एण्ड्रचूज़ साहब ने दक्षिण अफ्रीका से बहुत से पत्र स्वामी जी की सेवा में भेजे थे, जिन्हें स्वामी जी ने एक फाइल में इकट्ठा कर लिया था। जब स्व० सत्यदेव जी विद्यालंकार ने स्वामी जी की जीवनी लिखी तो वह फाइल उनके हाथ आ गई। भाई सत्यदेव जी ने काम निकाल लेने के बाद वह फाइल यह कहते हुए मुझे सौंप दी, 'चूँकि आप दीनबन्धु के परमभक्त हैं, इसलिए आप इस बहुमूल्य दस्तावेज की विधिवत् रक्षा करें।' मैंने वह फाइल राष्ट्रीय अभिलेखागार को सौंप दी। इस शर्त पर कि वह उसकी तीन फोटोस्टेट कॉपी तैयार करायें। राष्ट्रीय अभिलेखागार ने वैसा ही किया और उसमें की एक प्रति आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र में सुरक्षित है।

उस फाइल के पत्र इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनको पढ़ने के बाद लंकास्टर विश्वविद्यालय (इंग्लैण्ड) के प्रोफेसर श्री टिकरे साहब ने दीनबन्धु का नया जीवन चरित्र लिखने का निश्चय कर लिया। और 'ओरडील ऑफ लव' के नाम से छपा भी दिया। आवश्यकता इस बात की है कि एक विस्तृत भूमिका के साथ उन पत्रों

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७६
२. वही, पृ० १८१

के अनुवाद छपा दिये जावें।

"स्वामी श्रद्धानन्द जी ने निर्भीकता के जो उदाहरण अपने जीवन में उपस्थित किये, वे युग-युगान्तर तक भारतीय जनता के लिए प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।"[१]

लाला रामगोपाल शालवाले आनन्द बोध सरस्वती ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को शुद्धि आन्दोलन का जन्म दाता और त्रिकालज्ञ माना है :-

"स्वामी श्रद्धानन्द जी के दृष्टिकोण का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि जहाँ वे भारत की अतीत संस्कृति एवं गौरव पर इतना बल देते थे वहीं वे उनके वर्तमान तथा भविष्य की तरफ भी उतने ही जागरूक थे। इसलिए गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में उन्होंने अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय किया और गुरुकुल कांगड़ी को हिन्दी विभाग का माध्यम बनाया।"

"स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू (आर्य) जाति के महान् उद्धारक थे। उनका जीवन केवल आर्यसमाज के लिए ही नहीं अपितु समस्त देश भक्त भारतीय जनता के लिए महान् प्रेरक और प्रेरणा-स्रोत था।"

"सत्य के प्रति निष्ठा का आदर स्वामी श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था, वही सार्थक हुआ। सत्य में उनकी श्रद्धा थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य आज तक हम सार्थक रूप में देख रहे हैं।"

"आज देश के अन्दर इस्लामीकरण और ईसाईकरण की जो आँधी चल रही है, उससे हमें इस शुद्धि आन्दोलन के जन्मदाता की याद ताजा हो जाती है, जिसने धर्म और जाति की रक्षा के लिए अपना जीवन बलिदान किया।"[२]

वेद-पथिक **धर्मवीर आर्य** झण्डाधारी ने स्वामी जी को आर्य जाति का रक्षक, कर्मवीर और धर्मवीर माना है-

"प्रातःस्मरणीय पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने शुद्धि की बूटी पिलाकर तथा अपना बलिदान करके कोटि-आर्य जाति को विधर्मी होने से बचाया था, यह इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगा। स्वामी जी एक निर्भीक, कर्मयोगी, कर्मवीर और धर्मवीर महापुरुष थे। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी जैसी संस्था स्थापित करके महर्षि दयानन्द की वैदक शिक्षा प्रणाली का देश-विदेश में शंखनाद किया। हर्ष का विषय है कि आज उनके हजारों कुलपुत्र (स्नातक) भिन्न-भिन्न प्रकार से भारत जननी की सेवा

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १८२ ८३

२. वही, पृ० १८३

कर रहे हैं।

"मैं भारत माता की उस महान् विभूति के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ तथा आर्य नर-नारियों से अपील करता हूँ कि वे तन-मन-धन से शुद्धि और संगठन के कार्य में जुट जावें। यही स्वामी जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।"[१]

श्री जुगल किशोर बिरला ने स्वामी जी के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को आगे बढ़ाने को ही सच्ची श्रद्धांजलि मानते हुए अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आर्यधर्मियों की ही उन्नति में व्यतीत हुआ। जिसमें गुरुकुल की स्थापना, शुद्धि-संगठन के कार्य से तो हिन्दुओं में नव-जीवन सा आ गया। जाति के जीवन के लिए जनसंख्या तथा योग्यता दोनों की ही वृद्धि होना आवश्यक है। स्वामी जी ने दोनों ओर ही कार्य प्रारम्भ रखा था। यदि हम यादगार रखने के लिए योग्य अपने को दिखाना चाहते हैं तो उनके प्रारम्भ किए हुए कार्य को तेजी के साथ आगे बढ़ाते जाने से ही उनकी यादगार है।"[२]

लाला हरदयाल ने उन्हें उच्च जाति में पैदा होने वाला बताकर भी दलितों का उद्धारक बताया है—

"स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी आर्यसमाज की महात्मा-पार्टी के नेता थे। वह स्वयं उच्च वर्ण के हिन्दुओं में से थे, परन्तु उन्होंने दलित जातियों को उच्च जाति के अत्याचारों से मुक्त कराने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं किया। उन्होंने अपना सारा जीवन मनुष्य-मात्र की सेवाओं में अर्पित किया हुआ था। वह सच्चे हिन्दू थे। उन्होंने अस्पृश्यता और सामाजिक विषमता जैसी उन अहिन्दू दुर्भावनाओं तथा रीति-रिवाजों को, जोकि मध्यकाल के ब्राह्मणों के अज्ञान के कारण पैदा हो गये थे, अपने हृदय से निकाल दिया था।"

"कुछ समय के लिए उन्होंने कांग्रेसमैन के रूप में भी काम किया। परन्तु अन्त में उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति के सामाजिक और धार्मिक सुधार करने में लगा दिया। वह वैदिक संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ थे। उन्होंने अपने जीवन का चरम भाग दलित-जाति के उद्धार के काम में अर्पित किया था। उनका वैदिक धर्म में अटूट और अदम्य विश्वास था। वह वैदिक धर्म के निर्भीक प्रचारक थे।"

पौराणिक मूर्तिवाद के प्रचारकों ने हिन्दू-समाज में छुआछूत की प्रथा को प्रचलित कर दिया था। यह छुआछूत का धर्म घृ[illegible] का धर्म है। ऐसा धर्म वैदिक धर्म की पवित्र भावनाओं के प्रतिकूल है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने छुआछूत के धर्म की जी-जान से निन्दा की।"[३]

१. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृ० ५५६-५५७
२. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७४
३. वही, पृ० १७३

नेकीराम शर्मा ने 'स्वामी जी की निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता' के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं–

"स्वामी जी निर्भय थे, धुन के पक्के थे और अपने विचारों को बहुत स्पष्टतया प्रकट करने वाले थे। स्पष्टवादिता के कारण वह कितनी बार अपने साथी मित्रों और अनुयायी-भक्तों को भी रुष्ट कर दिया करते थे।

स्वामी जी का कार्यक्षेत्र सीमाबद्ध न था। वह एक ही साथ अनेक भिन्न रूप क्षेत्रों में कार्य आरम्भ कर देते थे और तन्मयता से सभी को पूरा करते थे। शिक्षा, सम्पादक, सामाजिक सुधार, आर्य संस्कृति की रक्षा, नारीहितों का संरक्षण, आध्यात्मिक उन्नति, धार्मिक विचारों में स्वातान्त्रय देशहित, नवयुवकों की अभिभावुकता, संगठन शक्ति और दलितों का उद्धार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों में स्वामी जी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और प्रायः सभी जगह वह सफल भी हुए। प्रायः लोगों का जीवन-काल ही किसी कार्य का सहायक हुआ करता है, पर स्वामी जी का मरण काल तो जीवन से भी अधिक जाति के अभ्युदय का साधन बन गया।"[१]

पं० दीनदयाल शर्मा ने स्वामी जी के साथ काम करने के उद्‌गारों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

"स्वामी श्रद्धानन्द का नाम हिन्दू जाति की नसों में नये रक्त का संचार करने वाला है। अपने जीवन के मध्यकाल में वे आर्यसमाज के उच्चकोटि के नेता थे और मैं उस समय सनातन धंर्म का जोरों से प्रचार कर रहा था। उस समय हमें यह भान न होता था कि हम दोनों कन्धे से कन्धा मिलाकर एक 'मिशन' के लिए एकमन होकर काम करेंगे। किन्तु हिन्दुओं की करुणाजनक दशा को देखकर स्वामी जी का आर्द्र हृदय पिघल उठा और वे बड़ा उदार भाव लेकर अपने जीवन के सन्ध्या-काल में हिन्दू-महासभा के नेता बने। उस समय हमें कई वर्ष तक साथ काम करने का अवसर मिला और मुझे याद है कि जाति-हित की दृष्टि से कई बार उन्होंने मेरे अनुरोध का पालन कर अपने भावों की उदारता दिखाई।"[२]

श्रीमती उमा नेहरू ने स्वामी जी के हरिजनों के प्रति प्रेम को स्मरण करते हुए कहा है कि उनके कार्य को आगे बढ़ाना उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी–

जब मैं स्वामी जी के जीवन का, उनके उत्तम विचारों का, उनके भाव एवं सेवा का ख्याल करती हूँ तो ऐसा मालूम देता है कि वह आज भी जीवित हैं। यद्यपि शरीर नहीं, लेकिन भारत में उनकी आत्मा पूर्णतः नजर आती है।

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १७४
२. वही, पृ० १७५

"वह हरिजनों की उमड़ती लहरें, वह मन्दिरों का खुलना, वह गली-गली में भगवान् की कथाओं का होना, उन कथाओं में हरिजनों का सम्मिलित होना, मन्दिरों में हँस-हँस कर जाना और हाथ बाँध कर भगवान् के सामने खड़े होकर यह शिकवा करना कि हे भगवान् ! क्या पाप हमसे हुए हैं ? क्या हम तुम्हारे जीव नहीं ? क्या हम इतने दरिद्र थे, जो तुम हमसे छिपे बैठे थे ? आज इतने अरसे बाद तुमने दर्शन दिये ?"

"वे सारे दृश्य जब मेरी आँखों के सामने से गुजरते हैं, तो एक बार स्वामी जी की शिक्षा व उपदेश का स्मरण हो आते हैं।"

"स्वामी जी का एकमात्र सन्देश यही है कि हम हरिजनों को इन्सान समझ कर उनका सुधार करें, जातिभेद को मिटाने की कोशिश करें, आपस में प्रेम व एकता का भाव पैदा करें और अन्त में सारी शक्ति को मिलाकर देश-सेवा में लगा दें। यही उनका उपदेश है, यही उनकी आत्मा चारों कोनों से कह रही है।"[१]

माधव श्रीहरि अणे ने उनके तप और त्याग के सुन्दर समन्वय का वर्णन निम्न प्रकार से किया-

"स्वामी श्रद्धानन्द जी भारत के उन महापुरुषों में हैं, जिनका देश के इतिहास में शाश्वत स्थान है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की कहानी अधूरी ही रह जायेगी यदि उसमें, शिक्षा, सामाजिक सुधार, धार्मिक पुनरुत्थान और वेदधर्म की सेवा के क्षेत्र में की गई स्वामी जी की सेवाओं का उचित अंकन न किया जाये। आर्य-ऋषियों की दो विशेषताएँ-आदर्शवादिता और त्याग की भावना का स्वामी जी में सुन्दर समन्वय हुआ था। वे स्वाधीन भारत के निर्माताओं में अन्यतम हैं।"[२]

"स्वामी श्रद्धानन्द एक पवित्र आत्मा वाले महान् पुरुष थे। उनकी मौत राष्ट्रीय हानि है। उनका कत्ल राष्ट्रीय महापाप है और राष्ट्र को इसके प्रायश्चित के लिए बहुत-कुछ भुगतना पड़ेगा। ये लोग पछताकर अपना सिर धुनेंगे जिनकी बदनीयती और बदहौंसलों ने वह वातावरण उपस्थित किया कि खूनी, उन्माद उबल उठा और यह घृणित घटना घटित हुई। बेवकूफ-कातिल केवल मात्र उन लोगों के हाथों की कठपुतली था जिन्होंने पर्दे के पीछे बैठकर इस घृणित नाटक को खिलाया। यह शोकजनक बलिदान उस प्राणघातक रोग का लक्षण है जिससे कि सारे भारत का राष्ट्र पीड़ित है।"[२]

स्वामी श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व सारे भारत की सम्पत्ति अपनी योग्यता और विद्वत्ता

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १८०
२. वही, पृ० १८१

से उन्होंने भारत के उत्थान में भाग लिया जैसे कि बहुत कम लोगों ने लिया होगा। उनकी निर्भयता और स्वार्थ-त्याग ने उनको ऐसे समय में स्वयमेव सर्वोपरि नेता बना दिया जबकि दिल्ली और वस्तुतः समस्त उत्तरी भारत राजनैतिक थपेड़ों से उथल-पुथल हो रहा था। उन्होंने अपनी व्यवहार-कुशलता, सहनशीलता और शान्त प्रकृति के द्वारा दिल्ली में ऐसे समय में भीषण रक्तपात होते-होते रोका जबकि क्रान्ति का दौर-दौरा अपने यौवन पर था। इनके कार्य सदैव चिरस्थायी और क्रियात्मक रहे हैं। लोग प्रायः इनको समझने में भूल करते हैं। परन्तु आजन्म त्यागपूर्ण वृत्ति, सत्य की लगन तथा सीधा सच्चापन सदैव उनके कार्यों पर मँडराने वाली अविश्वास की घनघोर घटाओं को छिन्न-भिन्न करता रहा। स्वामी जी कभी पालिसीबाज न रहे। वह ऐसे स्पष्टवक्ता पुरुष थे, जो अपने देश को प्यार करते थे, जिनकी श्रद्धा-भक्ति उस प्राचीन सभ्यता और शिक्षा में अटूट थी जिसके कारण भारत संसार के आध्यात्मिक गुरु की पदवी पर विराजमान था और अपने सिर पर गौरव और बड़प्पन का मुकुट धारण किये हुए था। वह आर्य जाति के प्रेमी थे, परन्तु साथ ही मुसलमानों को भी प्रेम-दृष्टि से देखते थे, यद्यपि मुसलमान स्वयं इनसे अनभिज्ञ थे। उनका उद्देश्य केवल मात्र एक था कि सुख और शान्ति के मार्ग में से रोड़े हटा दिये जावे कि जिससे एक विशाल और शान्त राष्ट्र खड़ा हो जाये। भगवान करे यह भारतभूमि अनेक श्रद्धानन्द पैदा करे।"[1]

पी० आर० लेले ने स्वामी जी को योद्धा, संन्यासी, एकनिष्ठ और आदर्श नेता स्वीकार करते हुए लिखा है–

"२३ दिसम्बर सन् १९२६ ई० को शहीद होने वाले स्वामी श्रद्धानन्द अपने शानदार शारीरिक स्वास्थ्य के कारण योद्धा संन्यासी कहलाते थे। इसका कारण यह नहीं था कि उनके मन या मस्तिष्क में कोई आक्रामक भाव था। वे उन बहुत थोड़े नेताओं में से एक थे, जो अपने सम्पर्क वालों से अपने विचारों से अपने विचारों में निरन्तर परिशोधन करते रहते थे। वे कर्म में विश्वास करते थे, इसलिए वे उन राजनीतिज्ञों के तौर-तरीकों को नापसन्द करते थे, जो अन्तहीन वाद-विवाद ही करते हैं तथा अपनी कर्मण्यता को भी गरिमायुक्त मानते हैं। उन्हें आक्रामक इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वे अवसर आने पर लड़ने से पीछे नहीं हटते थे। जब कभी उन्हें कोई उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करना होता, तो वे उसे पूरी तत्परता के साथ करने में संकोच नहीं करते थे तथा मार्ग में आने वाली बाधाओं की चिन्ता न करते हुए भी

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ११, पृ० १८२

उस कार्य में निरन्तर बढ़ते रहते, बिना इस बात की परवाह किये कि कितने लोग उनके साथ हैं या उनका अनुसरण कर रहे हैं। साथ ही उन्हें इस बात की चिन्ता भी नहीं रहती थी कि लोग उनकी आलोचना करते हैं, या उपहास करते हैं। उनको पहले महात्मा मुंशीराम के नाम से अभिहित किया जाता था और उनको दी गई यह 'महात्मा' की पदवी ही उपहास का व्यंग्य की प्रतीक थी। कारण स्पष्ट था। वे प्राचीन एवं मौलिक वैदिक संस्कृति के प्रचार के इच्छुक थे तथा बिना किसी प्रकार की राजकीय सहायता प्राप्त किये गुरुकुल की स्थापना करना चाहते थे। इसलिए उन्हें मात्र स्वप्नदर्शी कहा गया और 'व्यंग्य' में वे 'महात्मा' पद से सम्बोधित किये गये। तथापि वे एकनिष्ठ होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये और समय पाकर उन्हें अपने देश के सभी उच्च नेताओं से सम्मान प्राप्त हुआ।"[१]

प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने स्वामी जी के सर्वस्व होम की तुलना बादल से निम्न शब्दों में की है–

"स्वामी श्रद्धानन्द जीवनभर जनता के कल्याण के लिए विभिन्न कार्यक्षेत्रों में अपना समय, अपना धन, अपना ज्ञान और अपनी शक्ति, अपना सब-कुछ, बादल की तरह बरसाते रहे उन्होंने अन्त में वैदिक धर्म और आर्य-हिन्दू जनता की सेवा में अपने पवित्र रुधिर की धारा भी बरसा दी। सचमुच स्वामी श्रद्धानन्द वेद के शब्दों में 'मीढ़वान्' संन्यासी थे, बादल की तरह बरसने वाले संन्यासी थे।"[२]

स्वामी जी की हिन्दी सेवाओं का उल्लेख करती हुई **सुशीला देवी आर्या** लिखती हैं–

"श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दी साहित्य में जो योगदान दिया है वह भुलाया नहीं जा सकता। 'सद्धर्म प्रचारक' अखबार द्वारा हिन्दी का जो प्रचार हुआ यह उनकी ही देन है। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी का सारा वातावरण ही हिन्दीमय बनाया था। उनके शिष्यों–पं० इन्द्र जी, सत्यदेव जी और रामगोपाल जी ने पत्रकारिता को जो प्रोत्साहन दिया यह सब स्वामी जी की ही कृपा थी। उस समय का सारा वातावरण हिन्दीमय था। तब सभी प्रान्तों के योग्य अध्यापक थे। सभी की बोल-चाल हिन्दी थी। गुरुकुल कांगड़ी के अनेक स्नातक जिन्हें मैं जानती हूँ जैसे विश्वनाथ, बुद्धदेव और मेरे पति प्रियव्रत जी ने उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी के लिए काम किया।

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश' ने स्वामी जी को यशस्वी आत्मकथाकार, संस्मरणकार,

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड ५, पृ० १५
२. स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्ध-शताब्दी (स्मारिका) पृ० ८

एवं जीवनीकार के रूप में स्मरण कर उन्हें विचारक, पथ-प्रदर्शक एवं तत्त्वान्वेषी माना है–

"स्वामी जी ने आत्मकथा, संस्मरण तथा जीवनी-विधा पर 'कल्याण मार्ग का पथिक', 'बंदीधर के विचित्र अनुभव' तथा 'आर्य पथिक लेखराम' पुस्तकें लिखकर आत्मकथाकार, संस्मरणकार तथा जीवनीकार का सफल विरुद पाया। यही कारण है कि १९१३ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन भागलपुर का उन्हें प्रधान बनाया गया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० श्यामसुन्दर दास ने स्वामी जी के स्वागत में जो शब्द कहे थे, उनसे स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व पर गहरा प्रकाश पड़ता है। हिन्दी के प्रारम्भिक निर्माताओं में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ स्वामी जी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

"स्वामी जी ऐसे विचारक और पथ-प्रदर्शक थे, जिन्होंने रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों पर चोट करते हुए सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष किया। धर्म, संस्कृति और जीवन दर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या की; एक साथ सबके उठकर खड़े होने तथा चलने की प्रेरणा दी; अपने आत्मगौरव को पहचानने का अवसर दिया तथा समान शिक्षा के लिए लिए समान अवसर और व्यवस्था का विधान कर पीढ़ियों के निर्माण की प्रयोगशाला गुरुकुल के रूप में स्थापित की। स्थापना क्या, शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। अछूतों के लिए सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से उन्होंने जो कुछ किया वह उस समय तक किसी ने नहीं किया था।"[1]

भारत माता के कर-कमलों को मेंहदी से नहीं, अपितु अपने रक्त से रचाने वाले अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द को **डॉ० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'** ने अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि इस प्रकार अर्पित की है–

"धर्म-शिक्षा राजनीति, अछूतोद्धार, शुद्धि एवं हिन्दी-प्रचार आदि आन्दोलनों को गति प्रदान करने वाले, असहयोग आन्दोलन में गौरांग गुरखा पलटन की संगीनों के सामने सीना तान कर खड़े होने वाले, सर्वप्रथम हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जामा मस्जिद की व्यासपीठ पर आरूढ़ होकर गूढ़ सिंहनाद करने वाले परम प्रचेता आर्य नेता महामना स्वामी श्रद्धानन्द को कौन नहीं जानता। आज सारा आर्यावर्त श्रद्धा से उनके श्रीचरणों में नतमस्तक है–

सोतों को जगाके, देश-धर्म पे लगाके, काल–
गर्त से निकाल आर्यावर्त को बचा गये।

---

१. पत्र के द्वारा प्राप्त

पश्चिम के तम का प्रसार नहीं होने दिया,
'पुरदर्द दास्तान' दिल की सुना गये ।
श्रद्धानन्द देने हेतु वैदिक अमृततत्त्व,
गुरुकुल कांगड़ी को स्थापित करा गये ।
अन्त में निराश भारती के पाश-बद्ध हाथ,
मेंहदी से नहीं, निज रक्त से रचा गये ।''[१]

स्वामी जी को प्राच्य विद्याओं का उन्नायक, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का पोषक, एवं वैज्ञानिक शब्दावली के हिन्दी अनुवादक के रूप में स्मरण कर **डॉ० सच्चिदानन्द शास्त्री** ने उन्हें आधुनिक संस्कृति का निर्माता माना है–

''स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और तदनुसार चलने वाले विश्वविद्यालयों को चुनौती देने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की नींव डाली। राष्ट्रभक्त और चरित्रवान नवयुवकों के निर्माण के लिए उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। महर्षि दयानन्द ने यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने का उद्योग किया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के मंच से यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होना चाहिए। गुरुकुल कांगड़ी उनके विचारों के क्रियात्मक परीक्षण की प्रयोगशाला थी।

''स्वामी जी प्राच्य विद्याओं के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान किये जाने के प्रबल समर्थक थे। जहाँ उन्होंने वेद, संस्कृत, दर्शन तथा पुरातत्त्व को अध्ययन का विषय बनाकर प्राचीन की रक्षा की, वहाँ विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था कर एक नए युग का प्रारम्भ भी किया। गुरुकुल भारतीय विश्वविद्यालयों में पहला विश्वविद्यालय है जहाँ विज्ञान का अध्ययन हिन्दी माध्यम से शुरू हुआ।

सन् १६०८ के युग में विज्ञान की पढ़ाई हिन्दी में हो यह संकल्प कितना कठिन रहा होगा। उस समय वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी गठन कल्पनातीत कार्य था। स्वामी जी ने अपनी उत्कट राष्ट्रभक्ति, आत्मगौरव तथा प्रबल इच्छा-शक्ति से अंसम्भव कार्य को भी सम्भव कर दिखा दिया। यदि हमारी नयी पीढ़ी इसके आलोक में अपना जीवन-पट बुन सके तो निःसन्देह कल का उन्नत भारत उनका होगा तथा उनका रहेगा। स्वामी जी आधुनिक संस्कृति के निर्माता थे।''[२]

प्रो० रामविचार के विचार से स्वामी जी निर्भीक विचारक एवं आदर्श आचार्य

---

१. पत्र द्वारा प्राप्त
२. वही

थे–

"एक नास्तिक, मद्यप, मांसाहारी और जुआरी व्यक्ति भी एक महामानव बन सकता है, उनका जीवन इस तथ्य का साक्षी है। पतित व्यक्ति भी उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करके महान् बन सकते हैं। उनका ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास था और ईश्वर-विश्वास के सहारे उन्होंने अनेक समस्याओं पर विजय प्राप्त की। वे महर्षि दयानन्द जी के आदर्शों के इतने सन्निकट थे कि उन्होंने अनेक आदर्शों को सर्वथा अपनाने का पूर्ण प्रयास किया। वे स्वाभिमानी एवं परम निर्भीक थे। संसार की कोई शक्ति उन्हें भयभीत नहीं कर सकती थी। वे गुरुकुल-पद्धति को साकार रूप देने वाले महापुरुष थे। वे एक आदर्श आचार्य थे। गुरुकुल के आचार्य पद पर रह कर उन्होंने इस आदर्श को भली-भाँति निभाया। वे अपने सिद्धान्तों के साथ किसी से समझौता करने वाले नहीं थे। इस सिद्धान्तप्रियता के कारण उन्होंने कांग्रेस और हिन्दू-महासभा का त्याग कर दिया। उनमें नेतृत्व के सभी गुण त्याग, तप, निर्भीकता, योग्यता, योजनाशीलता, कर्मशीलता, अर्थशुचिता, सदाचार और सद्व्यवहार आदि विद्यमान थे। उन्हें वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति से अधिक कुछ भी प्रिय नहीं था। इनके लिए ही उन्होंने अपनी सम्पत्ति और परिवार निछावर कर दिए। वे आर्यसमाज की सर्वोच्च विभूतियों में से एक थे।"[1]

आर्यसमाज के अग्रणी नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी के हिन्दी साहित्यिक प्रदेय पर सर्वांगीण सूक्ष्म विवेचन करते हुए **प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु** कहते हैं–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध पत्रकार, साहित्यकार व स्वतंत्रता-सेनानी आचार्य नरदेव जी शास्त्री ने यथार्थ ही लिखा है कि आर्यसमाज में स्वामी श्रद्धानन्द एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जो प्रत्येक क्षेत्र में धक्कमपेल करके दूसरों से आगे ये निकल गए।

"हिन्दी साहित्य को जितने पत्रकार और साहित्यकार आपने दिये उतने किसी और ने नहीं दिये। मुंशी प्रेमचन्द जी, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री सन्तराम जी बी० ए० सभी के लिए स्वामी श्रद्धानन्द प्रेरणा-स्रोत थे। श्री सन्तराम बी० ए० ने तो कई बार यह लिखा कि उन्होंने तो स्वामी श्रद्धानन्द जी का 'सद्धर्म प्रचारक' पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी थी।"

"कहानीकार श्री सुदर्शन जी ने स्वयं मुझे बताया कि वह स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आए। हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के पितामह श्री

---

१. पत्र द्वारा प्राप्त

डॉ० सत्यप्रकाश (स्वामी सत्यप्रकाश जी) पर भी भागलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में स्वामी श्रद्धानन्द जी की छाप लगी। उन्हीं के मुख से मैंने यह सुना था।"

"दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के आन्दोलन के लिए जीवन देने वाले साहित्यकार श्री वंशीधर विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति आदि स्वामी जी के ही शिष्य थे। आचार्य पं० चमूपति जी सरीखे मनीषियों को हिन्दी साहित्यकार बनाने का श्रेय इसी विभूति को प्राप्त है। पं० भीमसेन विद्यालंकार, पं० हरशरण, पं० सत्यदेव विद्यालंकार, पं० रामगोपाल, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति की सेवाओं की चर्चा के बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास अधूरा है। श्री विष्णु प्रभाकर को हिन्दी रक्षक, हिन्दी सेवक बनाने वाले श्रद्धानन्द ही थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक मौलिक जीवन चरित्र मैंने ही लिखे हैं। मेरे ज्योति-स्तम्भ महान् श्रद्धानन्द हैं। जिनके लिए पं० गंगाप्रसाद जी ने एक उर्दू कविता में लिखा है–

"उर्दू छुड़ा के हिन्दी का नक्शा जमा दिया।
पंजाब की जबान को 'भाषा' बना दिया।।"

उनके हिन्दी प्रेम पर मैंने एक कविता लिखी थी–

"सत् धर्म प्रचारक' था उर्दू का पेपर।
कर डाला हिन्दी में मन में इच्छा लेकर।।"[1]

स्वामी श्रद्धानन्द के धार्मिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं साहित्यिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए **डॉ० भवानीलाल भारतीय** ने स्वामी जी के चरित्र को वीरता और बलिदान के प्रेरक के रूप में आँका है–

"सन् १९१९ में 'रौलेट एक्ट' के विरोध में महात्मा गांधी ने देशवासियों से सत्याग्रह करने का आह्वान किया था। ३० मार्च को राजधानी दिल्ली में व्यापक हड़ताल हुई। इसका नेतृत्व कर रहे थे स्वामी श्रद्धानन्द। चाँदनी चौक में विशाल जनसमूह स्वामी जी के नेतृत्व में आगे बढ़ रहा था तो अचानक गोरखा सिपाहियों ने संगीनों को तानकर उसे रोकने का प्रयास किया। किसी सिपाही ने भूल से गोली भी चला दी। स्वामी जी ने आगे बढकर उससे शान्त जनसमूह पर गोली चलाने का कारण पूछा। सैनिकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ने लगी। निर्भीक संन्यासी ने अपनी छाती खोल दी और ऊँचे स्वर में कहा–'मार दो गोली।' संगीनधारियों का साहस नहीं था कि गोली चलाएँ। कहना न होगा कि स्वाधीनता संग्राम के इन प्रारम्भिक दिनों में स्वामी श्रद्धानन्द दिल्ली की जनता के बेताज़ बादशाह थे। उन दिनों

१. पत्र द्वारा प्राप्त

साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं था। ४ अप्रैल, १९१९ को दिल्ली की जामा मस्जिद के मिम्बर पर खड़े होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने अपार मुस्लिम जनसमूह को संबोधित करते हुए देशवासियों को एकजुट होकर स्वतंत्रता के लिए सर्वस्वत्याग की प्रेरणा दी।

"स्वामी श्रद्धानन्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत सार्वजनिक जीवन के लिए समर्पित त्याग, बलिदान और सेवा की साक्षात् प्रतिमा थे। जलियाँवाला बाग की दुःखद घटना के बाद, अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के संयोजन और व्यवस्थापक का दायित्व स्वामी जी को सौंपा गया। कांग्रेस के इतिहास में यह तिलक युग के अवसान और गांधी युग की आगमन वेला थी। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपना स्वागत-भाषण हिन्दी में पढ़कर मानो यह संकेत कर दिया कि कोटि-कोटि देशवासियों के राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति की लड़ाई लोकभाषा को अपनाए बिना सफल नहीं होगी।

"स्वामी श्रद्धानन्द के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ आर्यसमाज से हुआ था। तब वे युवक थे। जब उन्हें स्वामी दयानन्द के दर्शन करने तथा उनके विचार सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय युवक मुंशीराम–यही उनका संन्यास से पूर्व का नाम था। पश्चिम के विचारकों तथा वैज्ञानिकों के विचारों का गम्भीर अनुशीलन कर अपने-आपको नास्तिक कोटि में मानने लगे थे। परन्तु स्वामी दयानन्द के एक व्याख्यान ने उनके विचार ही बदल दिये। अब वे परम आस्तिक तथा पुरातन मूल्यों के प्रति आस्थावान् बन गये।"

"प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित करने वालों में स्वामी श्रद्धानन्द का नाम पहली पंक्ति में है। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि पुरातन गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के बिना चारित्रिक और नैतिक उत्थान की संभावनाएँ क्षीण रहेंगी। इसलिए उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की गुरुकुल स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति के लिए थोड़े से ही समय में तीन हजार की राशि एकत्रित कर ली। २ मार्च, १९०२ ई० को कांगड़ी हरिद्वार के निकट ग्राम में उस गुरुकुल की स्थापना हुई। जो कालान्तर में एक विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ तथा अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक शिक्षा पद्धति के लिए एक आदर्श शिक्षण के रूप में जाना गया।"

"स्वामी श्रद्धानन्द जी जहाँ कहीं भी मानवता को ग्रस्त एवं पीड़ित देखते, उसकी रक्षा के लिए व्याकुल हो जाते। यही कारण है कि सन् १९२२ में जब सिक्खों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए गुरु का बाग सत्याग्रह आरम्भ हुआ तो स्वामी जी उसमें कूद पड़े। उन्हें १७ मह़ा के कारावास का दण्ड मिला। परन्तु सत्याग्रह की समाप्ति पर वे मुक्त कर दिये गये। अब वे खुलकर राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा

में आ गये थे। कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में उनकी गणना होने लगी थी। काकीनाड़ा कांग्रेस में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए मौलाना मुहम्मद अली ने सात करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों में आधा-आधा बाँट लेने की बात कही तो स्वामी जी रोष में आ गये। उन्होंने अविलम्ब कांग्रेस के समक्ष दलितोद्धार का कार्यक्रम रखा, जिस पर राष्ट्रीय नेता सहमत हुए। और महात्मा गांधी ने हरिजनों के उत्थान का कार्यक्रम व्यापक स्तर पर चलाया।

"स्वामी श्रद्धानन्द ने यह भी अनुभव किया कि स्वतंत्रता-संग्राम में पूर्ण विजय तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि देश का बहुमत हिन्दू समाज सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होकर अपने-आपको बलवान नहीं बना लेता। फलतः उन्होंने शुद्धि और संगठन का शंखनाद किया तथा दलित वर्ग के लोगों की सर्वतोन्मुखी कल्याण-योजनाएँ साकार कीं। सौहार्द्र के प्रतीक महापुरुष को भी एक धर्मान्ध व्यक्ति की गोली का शिकार होना पड़ा। पंडित नेहरू ने उन्हें निर्भीक साहस का पुजारी बताया। सरदार पटेल के अनुसार–'उस वीर संन्यासी का स्मरण हमारे भीतर हमेशा वीरता और बलिदान की भावनाओं को भरता रहेगा।'"[1]

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने स्वामी जी को हिन्दी साहित्य में 'आत्मकथा लेखन' का प्रवर्तक मानते हुए उनकी हिन्दी सेवाओं को अविस्मरणीय माना है–

"स्वामी श्रद्धानन्द जी (पूर्वनाम महात्मा मुंशीराम) ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा तो उर्दू भाषा से प्रारम्भ की थी, किन्तु कालान्तर में स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेश-प्रवचन आदि सुनकर उनका ध्यान हिन्दी भाषा की ओर गया। स्वामी दयानन्द हिन्दी भाषा को आर्यभाषा कहते थे। श्रद्धानन्द जी ने भी इसी आर्यभाषा को स्वीकार कर गुरुकुल कांगड़ी में अपने प्रयास से 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से एक पत्र निकालना शुरु किया। इस पत्र की भाषा हिन्दी ही थी। इसके बाद गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली का माध्यम उन्होंने हिन्दी भाषा को ही बनाया। विज्ञान की पुस्तकें आज से ८५ वर्ष पूर्व हिन्दी में तैयार कराईं और उन्हें पाठ्य-पुस्तक के रूप में कोर्स में लगाया। उस समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ नहीं हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली में अनेक स्थलों पर स्वामी जी का हिन्दी भाषा के प्रति ममत्व और आकर्षण मिलता है। यह ठीक है कि स्वामी जी कारयित्री प्रतिभा के व्यक्ति नहीं थे। किसी साहित्यिक विधा में उन्होंने काव्य, उपन्यास, नाटक आदि की

---

१. पत्र द्वारा प्राप्त
२. पत्र द्वारा प्राप्त

रचना नहीं की, किन्तु आत्मकथा के रूप में जो आत्मवृत्त लिखा है वह हिन्दी में है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसे आत्मकथा विद्या का सूत्रपात करने वाला कहा जाता है। हिन्दी के लिए इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि की पुस्तकों के निर्माण का कार्य उन्हीं के देखरेख में ८० वर्ष पहले हुआ था। इसलिए उनकी हिन्दी भाषा-सेवा को विस्मृत नहीं किया जा सकता।"[१]

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी के बहुआयामी जीवन ने अनेक आर्य समाज के विद्वानों, साहित्यकारों तथा पत्रकारों को प्रभावित किया। वे स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु के समान हिन्दी भाषा के उन्नायक थे। उनके तप, त्याग, निर्भीकता, समाजसेवा, समाजसुधार, अछूतोद्धार, अस्पृश्य-प्रेम, वैदिक धर्म प्रचार, राष्ट्रीय पुनरुत्थान, जातीय संगठन, श्रद्धा, ईश्वर में अटल विश्वास, धैर्य, शुद्धि आन्दोलन का प्रवर्तन एवं अमर बलिदान आदि दिव्य गुणों का वर्णन हिन्दी साहित्यकारों, पत्रकारों तथा देश की अन्य महान् विभूतियों ने श्रद्धापूर्वक किया है। अपने इन उदात्त एवं दिव्य गुणों के कारण ये अमर हुतात्मा अपने यशः शरीर से सदैव जीवित रहेंगे।

***

---

१. पत्र द्वारा प्राप्त

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रन्थ

१. सद्धर्म प्रचारक (साप्तहिक पत्र, हिन्दी) सन् १६०८ से १६१२ — सम्पा० स्वामी श्रद्धानन्द — प्रकाशन–गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार

२. श्रद्धा (साप्ताहिक पत्र, हिन्दी) सन् १६२०, २१ — सम्पा० स्वामी श्रद्धानन्द — प्रकाशन-गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार

३. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड १ से ७, १०, ११) — सम्पा० भवानीलाल भारतीय — प्रकाशन–गोविन्दराम हासानंद दिल्ली-६

४. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड आठ-नौ) — प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु — वही

सहायक ग्रन्थ

(हिन्दी)

१. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व — डॉ० निरूपण विद्यालंकार, डॉ० विनोदचन्द विद्यालंकार — आर्य साहित्य प्रकाशन समिति ७० पर्ण कुटी, नेहरू रोड़, मेरठ

२. स्वामी श्रद्धानन्द — पं० सत्यदेव विद्यालंकार — श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र, गु० कां० वि० वि० हरिद्वार

३. स्वामी श्रद्धानन्द — अशोक कौशिक — सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली-६

४. स्वामी श्रद्धानन्द — त्रिलोकचन्द आर्य 'विशारद' — गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६

५. आत्मकथा स्वामी श्रद्धानन्द — सुरेशप्रताप गर्ग — गुप्ता एण्ड कम्पनी, खारी बावली, दिल्ली

६. मेरे पिता — पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति — वाचस्पति पुस्तक भण्डार दिल्ली

७. स्वामी श्रद्धानन्द — डॉ० धर्मपाल — आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली

८. दयानन्द शतक — डॉ० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'अनिता — आर्ष प्रकाशन,

		वेदमन्दिर ज्वालापुर (हरिद्वार)
९. आर्यसमाज का इतिहास (भाग ५)	डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार प्रो० हरिदत्त विद्यालंकार	आर्य स्वाध्याय केन्द्र, ए १/३२, सफदरजंग इन्क्लेव, दिल्ली
१०. भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द	विष्णु प्रभाकर	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
११. सत्यार्थ प्रकाश	दयानन्द सरस्वती	गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली
१२. आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी परिषद् इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
१३. आर्यसमाज और उसका सन्देश	रघुनाथ प्रसाद पाठक	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-१
१४. रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास	गीता प्रेस, गोरखपुर
१५. भाषा विज्ञान	डॉ० भोलानाथ तिवारी	किताब महल, १५ थानाहिल रोड, इलाहाबाद
१६. भाषा-रहस्य	श्यामसुन्दर दास	बी० एस० माथुर, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
१७. सामान्य भाषा विज्ञान	बाबूराम सक्सेना	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१८. भाषा विज्ञान	डॉ० कर्ण सिंह	साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ
१९. पत्रकारिता के अनुभव	पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति	वाचस्पति पुस्तक भण्डार, दिल्ली
२०. आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार	डॉ० भवानीलाल भारतीय	परोपकारिणी सभा, अजमेर
२१. हिन्दी पत्रकारिता : विकास और विविध अध्ययन	डॉ० (श्रीमती) सुशीला जोशी	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए २४२, तिलक नगर, जयपुर
२२. संवाद और संवाददाता	राजेन्द्र	हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
२३. विदेशों में हिन्दी पत्रकारिता	डॉ० पवनकुमार जैन	राधा पब्लिकेशन्स, अंसारी रोड दरियागंज, दिल्ली
२४. कांग्रेस का इतिहास (प्रथम भाग)	बी० पट्टाभिसीतारमैय्या	मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

(संस्कृत)

१. ऋग्वेद	स्वामी दयानन्द	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली-१
२. यजुर्वेद	स्वामी दयानन्द	वही
३. सामवेद	पं०हरिशरणसिद्धान्तालंकार	मधुर प्रकाशन, आर्य समाजगली बाजार सीताराम, दिल्ली-६
४. अथर्ववेद	क्षेमकरण चतुर्वेदी	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा, दिल्ली-१
५. श्रीमद्भगवद्गीता	सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	विजयकृष्ण, लखनपाल डब्ल्यू ७७ ए, ग्रेटर कैलाश, (I) नई दिल्ली-४
६. उपनिषद् प्रकाश	सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	वही
७. मनु स्मृति	प्रो० सुरेन्द्र कुमार	आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट ४५५, खारी बावली, दिल्ली।
८. चाणक्य नीति	नरेन्द्र शर्मा	राधा पॉकेट बुक्स, ३३ हरीनगर मेरठ-२
९. कठोपनिषद्	महात्मा नारायण स्वामी	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा दिल्ली-२
१०. श्वेताश्वेतरोपनिषद्	श्री प्रेमनाथ	वही
११. छान्दोग्योपनिषद्	अचिन्त्य भगवान्	गणेश प्रिंटिंग यन्त्रालय, बम्बई
१२. सर्वदर्शन संग्रह	उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१
१३. संस्कारचन्द्रिका	डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	विजयकृष्ण लखनपाल डब्ल्यू ७७/ए, ग्रेटर कैलाश-I नई दिल्ली-४८
१४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	दयानन्द सरस्वती	सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली १

(कोश)

१. मानक हिन्दी कोश (खण्ड-५)	रामचन्द्र वर्मा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
२. संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशंस प्रा० लि० दिल्ली

३. पत्रकारिता सन्दर्भ ज्ञानकोश — याकूब अली खाँ — राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, तिलक नगर, जयपुर

४. बृहत् हिन्दी पत्रकारिता कोश — डॉ० प्रतापनारायण टंडन — साहित्य शिल्पी प्रकाशन, २३३ चन्द्रलोक, लखनऊ

५. हिन्दी पत्रकारिता कोश — अशोक गुप्त — इंस्टीट्यूट ऑफ जर्नालिज्म ए ११/३, लाजपत नगर, दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

१. प्रह्लाद (शिक्षांक) (१६८६) — सम्पा० डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश' — प्रकाशन-गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. आर्य जगत (साप्ताहिक पत्र)
   - (२४ दिस० सन् १६८६) — सम्पा० क्षितीश वेदालंकार — नई दिल्ली
   - (२६ दिस० सन् १६६१) — सम्पा० क्षितीश वेदालंकार — नई दिल्ली

***